भूमिका

जैन लोक और अन्य भारत के नगरों में जहाँ जैन मुनि जनों का गमन होता है कौन सा ऐसा व्यक्ति है जिसने जैन धर्म के धुरन्धर प्रचारक पंजाब केसरी जगत भूषण श्री प्रेमचन्द जी महाराज के सुप्रसिद्ध नाम को सुना न हो और उससे परिचित न हो । इस गए गुज़रे समय में, इस कलियुग के समय में यदि भारत की शान है तो केवल आप जैसे तेजस्वी, आत्मदर्शी जितेन्द्रीय और पुण्यात्माओं के चरण कमलों की कृपा से समाज अथवा महा देश को यदि गौरव है तो केवल आप पर, जैन धर्म को आपकी हस्ती पर नाज़ है ।

आपकी कीर्ति और आपके गुण आज जैन समाज नहीं बल्कि प्रत्येक जाति के हर व्यक्ति की जिह्वा पर है । आप भारत के शान्ति प्रिय महाकाश के एक प्रकाशमान सूर्य हैं, आप संयम और त्याग की जीती जागती तसवीर है । आप अपने सिद्धान्त के सत्य पथ पर दृढ़-गामी हैं । इसमें कोई संदेह नहीं कि कठिन से कठिन समय पर भी आपने अपने पवित्र प्रण और कार्यशीलता के सुदृढ़ पवित्र आंचल को नहीं छोड़ा । संसारिक प्रकृति अर्थात् मायावाद की छाया आपको अपनी ओर नहीं खींच सकती । कोई भी प्रलोभन आपको आपने सत्य पथ से हटा नहीं सकता । कोई संसारिक विपत्ति या शक्ति आप के मन को निरुत्साहित नहीं कर सकती । आपका त्याग और संयम अद्वितीय है, आपकी सत्यता, ब्रह्मचर्य्य और सन्तोष अवर्णणीय, आपकी विद्वत्ता अतीव सराहनीय है ।

आप समाजिक, साधारण संसारिक वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक धार्मिक तथा आध्यात्मिक विषयों में से कोई ऐसा विषय नहीं जिसकी लालसा और प्यास आप अपने ज्ञान भण्डार से शान्त अथवा संतृप्त न कर सके हों।

सूर्य्य को किस वस्तु से उपमा दी जा सकती है, समुद्र की तुलना किस से की जा सकती है, आप सचमुच ज्ञान के प्रकाशमान सूर्य्य हैं और त्याग के समुद्र हैं। आप ज्ञान सागर के एक चतुर और महान तैराक हैं। आप इस ज्ञान रूपी सागर की गहरी से गहरी गहराई से आध्यात्मिकता के अमूल्य मोती निकाल सर्व लोगों के कल्याण के लिये हज़ार हज़ार जिह्वा से संसार को दान दे रहे हैं।

आप को अपनी वानी पर इतना कावू है कि आप जो भी वचन अपने इस पवित्र मुख से फरमाते हैं वह तुला हुआ और भाव-पूर्ण होता है। जब आप व्याख्यान फरमाते हैं ऐसा प्रतीत होता है मानो कोई सिंह गरज रहा है। मुझे अपनी इस थोड़ी सी जीवन यात्रा में यदि हज़ारों नहीं तो सैंकड़ों वक्ता के भाषण सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ परन्तु जो रस, मिठास, प्रेम, सत्यता, कर्मशीलता, आत्मिक शान्ति अथवा प्रसन्नता आपकी पवित्र मनोहर वानी से मिली किसी दूसरे से नहीं मिली और न ही मिलने की आशा है।

आप इस सरलता, सुगमता, मधुरता और प्रेम से जो ज्ञानोपदेश देते हैं वह सुनने से ही सम्वन्धित है जो भी व्यक्ति पढ़ा लिखा या अनपढ़ जिसने भी एक वार एक दिन आपकी मनोहर वानी सुनी सदैव के लिये आपका अटूट भक्त वन गया। आपके प्रवचनों अथवा उपदेशों में स्त्री पुरुष तो क्या वालक और वालिकाएँ भी चंचलता को त्याग कर आपके प्रवचन श्रवण में मन्त्र मुग्ध हो जाते हैं और आपके

प्रवचन का एक ऐसा ही अवर्णनीय जादू सा चल जाता है मानो हर नर नारी आपके ज्ञान सागर में गोते लगाने लग जाता है। जनता के हृदयों पर तो आप क्षण भर में ही छा जाते हैं और खुशक मानस धरती को आप ज्ञान की आन में मानो सरस बना कर रख देते हैं।

आप के दिल में दीन दुखियों के लिये तड़प है। आप विश्व प्रमी हैं और विश्व में शान्ति, सुख और आपसी प्रेम के इच्छुक हैं। इसी कारण आपके भाषण सर्वकल्याण आत्मुद्धार जैसे विशाल विषयों पर ही होते हैं। आप एक महान परोपकारी जीव हैं। इसलिये आपका हर श्वास जीवों के कल्याण के लिये ही अर्पण है। इसीलिये आपके भाषण प्रायः जैन समाजगत तथा अन्य भारत गत समाजों में जो अनुपयोगी कुरीतियां हैं उनके विरुद्ध हैं और आप अपने मनोहर व्याख्यानों द्वारा उन कुरीतियों को मिटाने का आकर्षक वर्णन करते हैं। सचमुच आप लाखों तथा कोटि वक्ताओं में से केवल एक वक्ता हैं जिनको यह सौभाग्य प्राप्त है। आप जब भी अपनी मुबारक जबान से बोलते हैं तो आपका रोम-रोम बोल रहा होता है। इस अतीव शर्दऋतु में भी आपके पवित्र मस्तक पर पसीना आ जाता है। आपके तेजस्वो मुख से और दिव शरीर से निकलने वाला प्रत्येक स्वेद बिन्दु मानो अमृत बिन्दु होता है।

आपके उपदेश इतने मनोरंजक, उपयोगी और आत्मदर्शी होते हैं कि हर सुनने वाले का दिल सुनते-सुनते उकताता नहीं है। श्रोतागण प्रवचन श्रवण काल में इतने मग्न हो जाते हैं कि वे अपने आपको खोया सा पाते हैं। इतना ही नहीं श्रोताओं की इस बात की भी प्रवल भावना होती है कि आपके मुक्त कण्ठ से निकले हुए एक-एक पवित्र वाक्य को लेखवद्ध कर लें। यही कारण है कि

कितने ही स्त्री पुरुष आपके प्रवचन के अपनी शक्ति अनुसार नोट लेते रहते हैं जो कि आप उनको अनुपस्थित काल में आत्मबोध देते रहते हैं।

जो लोग आपके उपदेशों का लाभ नहीं उठा सकते उन्हें भी आपके उपदेशों का लाभ प्राप्त हो सके इस उद्देश्य को लेकर 'प्रेमसुधा' व्याख्यान माला पुस्तक रूप में प्रकाशित की जा रही है जिसके प्रथम भाग से लेकर ग्यारहवें भाग तक दस भाग प्रकाशित हो चुके हैं। कागज के न मिलने के कारण से दसवां भाग प्रकाशित नहीं हो सका था सो वह भी आपके कर कमलों में बड़े सुन्दर ढंग से सजधज कर समाप्त हो रहा है। आशा है कि पाठक जनों ने जिस प्रकार पूर्व प्रकाशित भागों का सादर स्वागत किया है उसी प्रकार इस दसवें भाग को भी अपना कर राष्ट्र, समाज तथा जाति कल्याण के भागी बनेंगे।

महाराज श्री जी अपने प्रवचन काल में जिस सरल, सुगम एवं हृदय गम्य भावपूर्णशैली से प्रवचन फरमाते हैं उसी पद्धति से प्रेम-सुधा नामक व्याख्यान माला के भागों में भी प्रवचन संकलित किये गये हैं जिनको पढ़ कर प्रत्येक मनुष्य सहज में ही लाभ उठा सकता है। वास्तव में यह व्याख्यानों का संग्रह हिन्दी पढ़ी लिखी जनता का एक अमूल्य धन है। इसका पढ़ना पढ़ाना जैनी ही नहीं वल्कि प्रत्येक भारतवासी का परमधर्म है। इससे वह अपने जीवन को उज्जवल, अत्युज्जवल अथवा समुज्जवल वना सकते हैं।

मेरी यह मनोकामना है कि ऐसी धार्मिक पुस्तकें हर पुस्तकालय और हर प्राणि के पास होनी चाहियें और ऐसी पुस्तकें

हमारी यूनीवर्सिटी के छात्र-पुस्तकालयों में भी अवश्य होनी चाहियें जिससे वे सदाचारी बन सके, अपने जीवन सुधार सकें, अच्छे नागरिक बन सकें और अपने माता-पिता के नेक पुत्र कहलाएँ।

हमारे परम श्रद्धेय प्रातः स्मरणीय पंजाब केसरी जगत भूषण जी ने अपने इस नवीन भाग की भूमिका लिखने की सेवा मुझ तुच्छ सेवक को सौंपी है । चाहिये तो यह था कि इसकी भूमिका कोई विद्वान, आत्मदर्शी लिखता किन्तु यह महाराज श्री जी की उदारता और अतीव कृपालुता है कि यह महान कार्य्य मेरे जैसे अल्प बुद्धि वाले को बखशा है। इस सेवा के लिये मैं इनका अतीव धन्यवादी हूँ। मैं इस सेवा के योग्य तो न था परन्तु महाराज श्री जी का तुच्छ चरण सेवक होने के नाते उनके पवित्र आदेश पर यह कुछ टूटे-फूटे शब्द लिख रहा हूँ पता नहीं ये कहां तक ठीक हैं यह केवल पाठक ही स्वयं देखेंगे।

अन्त में मेरी यह प्रबल इच्छा और मंगल अभिलाषा है कि महाराज श्री जी सदैव निरोग रहें। इनकी आयु दीर्घ हो ताकि यह अपने इस पवित्र उद्देश्य की पूर्ति के लिये उपदेश देते रहें और यह मनोहर उपदेश इसी प्रकार भविष्य में भी प्रकाशित होते रहें, ये सर्व प्रिय हों और दुनिया के लोग इनसे अधिकाधिक लाभ उठाते रहें।

इत्यिलम सुज्ञेषु कि बहुना।

ओ३म शान्ति ! शान्ति ! शान्ति !

जण्डयाला गुरु
अमृतसर
२२—१२—५९

भवदीय
दीना नाथ पुरी
बी.एस.सी. (आनर्ज़) बी.टी.

"पुस्तक की परिक्रमा"

जीवन क्या है ? विचार और आचार का समन्वय मन में संकल्प जगता है, उससे विचार वनते हैं और वे ही विचार कार्य रूप में परिणत होने पर आचार कहलाते हैं। विचार आचार का पूर्व रूप है। विचार के अनुरूप ही आचार में गति-प्रगति. होती है। विचारों में जितनी शुद्धता, सात्विकता एवं विराटता होती है, आचार में भी उतना ही विकास परिलक्षित होता है। आचार-विचारों की क्षुद्रता एवं महानता पर आधारित है। आचार को विशुद्ध वनाने के लिए विचारों को विराट वनाने की जरूरत है, मन को मांजने एवं चिन्तन को मोड़ देने की आवश्यकता है। क्योंकि आचार का मूलाधार विचार है। अतः पहले विचारों में परिवर्तन आता है, फिर आचार में। दूसरे शब्दों में यों भी कह सकते हैं कि विचार के वदलते ही आचार वदल जाता है। दृष्टि के वदलते ही सृष्टि वदल जाती है। विचारों में, सोचने-समझने की दृष्टि में सम्यक्त्व आने पर आचरण भी सम्यक वन जाता है। परन्तु जव तक विचारों में सीधापन नहीं आता, तव तक आचरण भी सम्यक् नहीं होता, उसमें भी विषमता वनी रहती है और आचरण के विना सुधरे जीवन का विकास नहीं होता। अतः जीवन-विकास या आत्मोत्थान के लिए विचारों को, वुद्धि को मांजना जरूरी है।

भारतीय-संस्कृति—उसमें भी श्रमण-संस्कृति के विचारकों ने सव से पहले विचारों को सम्यक् वनाने पर जोर दिया। श्रमण

भगवान् महावीर की भाषा में कहूँ तो 'पढ़मं नाणं तयो दया' अर्थात् पहले ज्ञान फिर दया या पहले विचार फिर आचार। क्योंकि ज्ञान के बिना आचरण में जीवन आ नहीं सकता। अतः आचार को अभिनव मोड़ देने के लिए पहले विचार को सही दिशा की ओर घुमाना होगा और विचारों में अभिनव ज्योति जगने पर ही आचार में तेजस्विता आ सकेगी।

इतिहास साक्षी है कि दुनिया में अवतरित होने वाले महापुरुषों ने मानव के सामने पहले विचारों को मांजने की बात कही। उन्होंने पहले श्रद्धा को, ज्ञान को, विचारों को सम्यक् बनाने का उपदेश दिया, बाद में आचरण की बात कही। भगवान् ऋषभदेव से लेकर भगवान् महावीर तक हुए सभी तीर्थंकरों ने पहले दर्शन और ज्ञान को विशुद्ध बनाने की बात कही, उसके बाद आचार का उपदेश दिया। महावीर के बाद हुए आचार्यों ने भी इसी बात को दोहराया या यों कहिए तीर्थंकरों की वाणी का गाँव-गाँव में, गली-गली में और घर-घर में प्रचार किया। महापुरुषों के विचारों को फैलाने या जनता के चिन्तन को सही दिशा में मोड़ देने वाले सम्यक् विचारों को जगाने का सरल साधन एवं सहज मार्ग है—उपदेश या व्याख्यान, व्याख्यान-भाषण आज के युग का ही नहीं, हजारों-हजार शताब्दियों से चला आ रहा है।

अपने विचारों को जनता तक पहुँचाने के लिए स्टेज अत्युत्तम साधन है। भारतीय-संस्कृति के प्रत्येक महापुरुष एवं सन्त महात्मा तथा ऋषि-महर्षि इसका प्रयोग करते रहे हैं। भगवान् महावीर ने भी अपने प्रवचनों—व्याख्यानों के द्वारा मानव को सोचने-समझने एवं अपने आपको परखने-पहचानने के लिए एक दृष्टि दी जो

गणधरों एवं पूर्वाचार्यों के सद्प्रयत्न से आगमों के रूप में आज भी हमारे सामने विद्यमान हैं। आगम—शास्त्र क्या है ? भगवान् महावीर द्वारा समय-समय पर दिए गए प्रवचनों—भाषणों एवं उन से पूछे गए प्रश्नोत्तरों का संग्रह। अस्तु महापुरुषों के विचारों को फैलाने का सरलतम साधन—उपदेश—व्याख्यान है। इसी साधन के द्वारा आचार्य एवं सन्त जन जीवन में सम्यक् विचारों की ज्योति जगाते रहते हैं।

'प्रेम सुधा' के दसवें भाग तथा इससे पूर्व प्रकाशित नव भागों में श्रमण भगवान् महावीर के विचारों का ही विश्लेषण किया गया है। 'प्रेम-सुधा के दसों भाग श्रद्धेय मन्त्री मुनि श्री प्रेमचन्द जी महाराज के समय-समय पर दिए गए प्रवचनों—भाषणों का संग्रह है। श्रद्धेय मन्त्री जी महाराज एक अच्छे विचारक एवं निधड़क वक्ता हैं। जनता के सामने अपने सही विचारों को रखते समय आप जरा भी भय एवं संकोच महसूस नहीं करते और न आपकी भाषा में लाग-लपेट एवं दुराव-छिपाव ही होता है। आपके इसी साहस के कारण लोग आपको पंजाब केसरी के नाम से पुकारने लगे। वस्तुतः हैं भी केशरी और केशरी—सिंह की तरह ही निर्भयता के साथ गर्जते हैं। आप भारत के अनेक भू भागों में घूम आए हैं। राजस्थान के शुष्क मैदान जिनकी सरस वाणी से आप्लावित हो चुके हैं। सौराष्ट्र, महाराष्ट्र, मध्य-प्रदेश, यू. पी. और दिल्ली के कोने-कोने में जिनका स्वर गूंज चुका है। पंजाब के मैदानों में जो प्रारम्भ से बरसते रहे हैं और आज भी प्रेम की वर्षा कर रहे हैं। प्रस्तुत पुस्तक—'प्रेम सुधा' भाग दसवाँ इन्हीं की वचनामृतों का संग्रह है।

प्रस्तुत पुस्तक—व्यावर वर्षावास में विभिन्न विषयों पर दिए गए प्रवचनों में से बारह प्रवचनों का संग्रह है। प्रथम प्रवचन में स्याद्वाद् की सरल एवं सीधी भाषा में 'सद्भाव प्रत्याख्यान' का विश्लेषण किया गया है। सद्भाव के त्याग एवं अनिवृत्ति भाव की प्राप्ति की बात सापेक्ष दृष्टि से कही गई है। सद्भाव के त्याग का अर्थ—आत्मा में सदा अस्तित्व रूप रहने वाले गुणों से नहीं, बल्कि उन मनोविकारों से है, जो आत्मा के गुण न होने पर भी आत्मा में अस्तित्व रूप से रह रहे हैं अर्थात् असत् होने पर भी जो आत्मा में सद्भाव रूप से भासित हो रहे हैं और जिनके कारण आत्मा स्वगुणों से निवृत्त हो रही है। उन काम-क्रोधादि मनोविकारों का परित्याग करना ही सद्भाव प्रत्याख्यान कहलाता है। मनोविकारों का परित्याग करते ही उनका सद्भाव समाप्त हो जाता है और आत्मगुणों की निवृत्ति भी रुक जाती है। इसी बात को मंत्री जी म० ने सरल भाषा में रोचक उदाहरण देकर स्पष्ट किया है।

दूसरे प्रवचन में "जीवन का आदर्श" क्या होना चाहिए, इस का बहुत ही सुन्दर शब्दों में विवेचन किया गया है। जीवन का आदर्श गिरते हुए व्यक्ति को ऊपर उठाने में, फिसले हुए कदमों को सहारा देकर खड़े रखने में है, न कि गिरते हुए को धक्का और देकर गिराने में है। मंत्री मुनि जी के शब्दों में 'दियासलाई जब दूसरों को फूंकने जाती है तो पहले स्वयं फुंक जाती है। दूसरे की झौंपड़ी तक पहुँच सकेगी या नहीं, किन्तु ऐ दियासलाई ! पहले तो तू ही नष्ट हो जाएगी।"

तीसरे प्रवचन में "राग-त्याग" का मार्ग बताया गया है। संसार परिभ्रमण के मूल कारण दो ही हैं—राग और द्वेष। द्वेष की

अपेक्षा राग-अनुराग पर विजय पाना कठिन है। द्वेष कटु होने के कारण उससे बच कर रहा जा सकता है, परन्तु राग मधुर होने के कारण उससे बचना कठिन है। इसलिए सब से पहले राग पर विजय पाना जरूरी है। राग पर विजय पाने वाला द्वेप पर सहज ही आधिपत्य जमा लेता है। चौथे प्रवचन में "आन्तरिक दोष परित्याग" की बात कही है। राग-द्वेप, काम-क्रोधादि दोपों से बचने का एक ही रास्ता है कि मनुष्य व्यक्तिगत, पारिवारिक एवं साम्प्रदायिक संकीर्ण काल कोठड़ियों से निकल कर अपने हृदय को विराट् बनाए, अपने स्वार्थों को सबके स्वार्थों में विलीन कर दे।

पाँचवें व्याख्यान में "रोगों की जड़" क्या है बताया गया है, तो छठे व्याख्यान में "शिवरमणी सम्मिलन" का पथ दिखाया है। वस्तुतः रोगों की जड़ विकृति है। जब आत्मा विकारों के कुपथ्य का सेवन करने लगती है तो आत्मभाव से दूर हट कर संसार में परिभ्रमण करती है। मंत्री जी म० के शब्दों में "राग, द्वेष और मिथ्यात्व की यह त्रिपुटी ही इस आत्मा को दुःखी बना रही है।" अतः राग-द्वेष एवं मिथ्यात्व आदि मनोविकारों से ऊपर उठना ही आत्मा का साक्षात्कार करना है। दूसरे शब्दों में शिवरमणी से भेंट करना है या यों कहिए मोक्ष को प्राप्त करना है। राग-द्वेष एवं मिथ्यात्व की त्रिपुटी का नाश करना ही मोक्ष है।

सातवें व्याख्यान में "अपनी शक्ति को पहचानो" की बात कही है। आत्मा की ज्ञान, दर्शन, सुख-शान्ति आदि शक्तिएँ कहीं अन्यत्र नहीं, आत्मा में ही स्थित हैं। उसके अन्दर ही अनन्त खजाना छिपा पड़ा है। आवश्यकता है अज्ञान के आवरण को हटा कर अवलोकन करने की। क्योंकि आत्मधन या सुखों का खजाना अन्यत्र

कहीं नहीं आत्मा के अन्दर ही विद्यमान है। यह वात आठवें प्रवचन से स्पष्ट हो जाती है। नवें प्रवचन में वताया गया है कि मोह कर्म के उदय से आत्मा अपने मार्ग से भटक जाती है। वह आत्मा के अनन्त ज्ञान-दर्शन के खजाने को छोड़कर राग-द्वेप एवं मिथ्यात्व में भटक जाती है और आत्मधन की दृष्टि से कंगाल होकर संसार में अनन्त वेदनाओं एवं यातनाओं को सहती है। इसलिए मुमुक्षु को चाहिए कि वह मोह कर्म जन्य राग-द्वेप एवं मिथ्यात्व की 'त्रिपुटी का त्याग' करे। क्यों कि यह त्रिपुटी ही जन्म-मरण एवं दुःखों का मूल है। इसका उन्मूलन करना ही दुःखों से छुटकारा पाना है! कहा भी है—"अग्गं मूलं च छिंदइ" दुःखों के पत्तो-पुष्पों एवं शाखा-प्रशाखाओं का ही नहीं, उसके साथ मूल का भी छेदन करना चाहिए। मूल का उन्मूलन कर दिया तो पत्र पुष्प एवं फलों का उन्मूलन तो स्वयं ही हो जाएगा, यह वात दसवें व्याख्यान में वताई गई है। इन सव का मूल कारण मोह है। इसलिए उसे सव कर्मों का राजा कहा है। उसके उदय में रहते आत्मा को उद्गान की प्राप्ति नहीं होती। अतः ग्यारहवें प्रवचन में इस वात पर प्रकाश डाला गया है कि 'मोह विजय का मार्ग' क्या है और मार्ग को तय करने के लिए गति की आवश्यकता है। भले ही गति धीमी हो, वैठते-उठते चला जाए, परन्तु जीवन में गति अवश्य होनी चाहिए। यदि व्यक्ति सही दिशा में कदम वढ़ा रहा है, तो वह एक दिन निश्चित मंजिल पर पहुँच जायगा। मंत्री जी म० के वारहवें व्याख्यान "चलो—भले हौले हौले" का यही सार है।

इस तरह मन्त्री जी म० के सारे प्रवचन विचारों को मांजने वाले हैं, चिन्तन को नया मोड़ देने वाले हैं, आध्यात्मिक भावना को

जगाने वाले हैं। इन प्रवचनों में पाठकों को भारत के, श्रमण-संस्कृति के एक जाने माने महान् सन्त के व्यक्तित्व की झलक, आध्यात्मिक साधना की झलक, विचार की झलक, आचार की झलक एवं त्याग-विराग की झलक स्पष्ट रूप से मिलेगी। इन प्रवचनों में प्रत्येक व्यक्ति को आध्यात्मिक साधना साधने तथा पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय उत्तरदायित्व को निभाने की सही दिशा मिलेगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

आज हम लोगों में एक यह रोग लगा है कि हम हर काम के लिए मन्त्री, नेताओं एवं प्रसिद्ध व्यक्तियों के द्वार खटखटाते रहते हैं। किसी मकान का उद्घाटन करवाना है, तो मंत्री को बुलाएँ, किसी पुस्तक की भूमिका लिखवानी हो तो मंत्री या प्रसिद्ध विद्वान् के घर की खाक छानें। पर श्रद्धेय मन्त्री जी म० ने इस दिशा में क्रान्तिकारी कदम उठाया है। उन्होंने साधारण व्यक्तियों को सोचने विचारने एवं अपने अनुभव प्रकट करने का भी अवसर दिया है। यह उनकी महान् कृपा है कि उन्होंने मेरे जैसे साधारण विचारक को 'प्रेम-सुधा' के दसवें भाग की भूमिका लिखने को कहा। मैंने पुस्तक के प्रथम पृष्ठ को खोला तो ऐसा लगा कि पुस्तक छोड़ते ही न बना, सारी पुस्तक की परिक्रमा कर गया और वह परिक्रमा आपके सामने है। पुस्तक धार्मिक, सामाजिक, व्यावहारिक एवं राष्ट्रीय हर दृष्टि से संग्रहणीय है।

जैन स्थानक
फगवाड़ा (पंजाब)
दिनांक २२—१२—५९

—मुनि समदर्शी (आईदान)

शीर्षकों का हार

सद्भाव-प्रत्याख्यान

उपस्थित महानुभावो !

शास्त्र में उल्लेख है कि शिष्य ने गुरुदेव से प्रश्न किया—

'सब्भावयच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?'

अर्थात्—हे गुरुदेव ! सद्भाव का प्रत्याख्यान करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

किसी चीज़ के अस्तित्व को सद्भाव कहते हैं और न होने को अभाव कहते है। तो यहाँ सद्भाव के प्रत्याख्यान से क्या लाभ होता है, यह प्रश्न किया गया है। किन्तु सद्भाव तो जीव, अजीव आदि नौ ही तत्त्वों का, विश्व के समस्त पदार्थों का है। दूसरे शब्दों में धर्मास्ति आदि छहों द्रव्यों को विश्व में सद्भाव है। तो क्या शास्त्रकार सभी पदार्थों के त्याग का विधान कर रहे हैं ? जब सद्भाव का त्याग कर दिया जायगा तो फिर शेष क्या रहेगा ?

सज्जनो ! इन्हीं बातों को समझने की आवश्यकता है। सभी वस्तुओं का सदभाव है तो उनका त्याग करने का अर्थ क्या ? और हमारे त्याग करने से उन वस्तुओं का बनता-बिगड़ता क्या है ? सभी सद्भाव वाली वस्तुओं का त्याग संभव भी कैसे है ? क्या संवर, निर्जरा और मोक्ष का भी त्याग कर दिया जाय ? शरीर का भी 'वोसिरामि' कर दिया जाय ?

जिस पदार्थ का जो स्वभाव है, वह उससे पृथक् कदापि नहीं हो सकता। आत्मा में आतमभावी जिन चीज़ों का सद्भाव चला

आता है, उनमें छोड़ने योग्य तो कोई नहीं है । ज्ञान-दर्शन आदि का सद्भाव होने पर भी वे छोड़े नहीं जा सकते । उनका छोड़ा जाना अभीष्ट भी नहीं है । प्रत्याख्यान आत्मा के कल्याण के लिए है, अतएव जो चीजें आत्म-कल्याण में प्रतिबंधक हैं, उन्हीं को छोड़ना उचित है और इस कारण सद्भाव-प्रत्याख्यान का मतलव यही है कि जीव के साथ जो क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेप आदि वैभाविक पदार्थों का सद्भाव चला आ रहा है, उसका त्याग करना चाहिए । इनका त्याग किया जा सकता है और त्याग करना आत्मकल्याण के लिए आवश्यक भी है ।

यद्यपि आत्मिक विकारों का भण्डार अक्षय है, फिर भी व्यक्तिगत इनका विनाश किया जा सकता है, त्याग किया जा सकता है । इनका समष्टिगत अभाव न कभी हुआ है और न कभी होगा ।

इस प्रकार सद्भाव के प्रत्याख्यान का अर्थ यह निकला कि आत्मा के साथ जिन विरोधी तत्त्वों का सद्भाव है, उनका त्याग करना चाहिए । ये विरोधी तत्त्व आत्मीय गुणों के घातक हैं, उन्हें हानि पहुँचाने वाले हैं । अतएव अपने घर को इनसे वचाए रक्खो, इन्हें अपनी आत्मा में प्रविष्ट मत होने दो । यों समष्टिगत तो इनका सिलसिला चलता ही रहेगा ।

सद्भाव का प्रत्याख्यान करने से आत्मा में अनिवृत्तिभाव की प्राप्ति होती है ।

अभी उपरोक्त एक गुत्थी सुलझाई तो दूसरी उलझन फिर सामने आ गई । विचारणीय यह है कि निवृत्तिभाव अच्छा है या अनिवृत्तिभाव ?

आप लोग विचार में पड़ गये। आप निवृत्तिभाव को त्याग को ही अच्छा मानते आये हैं और यहाँ अनिवृत्तिभाव रूप गुण की प्राप्ति बतलाई है; तो अनिवृत्ति को गुण मान लिया है। किन्तु सज्जनो! यदि मस्तिष्क को और श्रोत्रेन्द्रिय को स्थिर करके सुनोगे और समझने का प्रयास करोगे तो कठिनाई भी आसानी बन जायेगी। यदि हम इन शब्दों के अन्तरंग भाव को समझने का प्रयत्न नहीं करेंगे तो घोटाले में पड़ जाएँगे।

तो बात यह है कि सद्भाव का प्रत्याख्यान अर्थात् क्रोध, मान,माया, लोभ आदि विकारों का त्याग जो करता है,अपने तपोबल एवं ज्ञानबल से जो इन्हें निर्मूल कर देता है और इनके सद्भाव का अभाव कर देता है, उसे अनिवृत्तिभाव की प्राप्ति होती है। यहाँ समझना यह है कि किसी चीज़ का सद्भाव अच्छा है और किसी चीज़ का अभाव अच्छा है। जैसे घर में कूड़े-कचरे का अभाव अच्छा है और हीरा, माणिक, मोती, सोना, चाँदी आदि का सद्भाव अच्छा है। तथा अच्छे पुरुषों का एवं धर्म का होना अच्छा है और अभद्र व्यक्तियों का एवं दुर्गुणों का नहीं होना ही अच्छा है। इसी प्रकार ज्ञान दर्शन चारित्र तप आदि आत्मीय गुणों का सद्भाव होना ही अच्छा है। इनका अभाव होना आत्मा का दिवाला निकालना है। इसी प्रकार आत्मा के विरोधी तत्त्वों का अभाव होना ही अच्छा है।

सज्जनो! मैंने कहा था कि घर में कूड़ा-कचरा न होना ही अच्छा है ताकि घर स्वच्छ रहे और वायुमण्डल भी स्वच्छ रहे। घर में कूड़ा-कचरा रहने से अनेक प्रकार की बीमारियों के उत्पन्न हो जाने की संभावना रहती है। यही कारण है कि घर को साफ रखने के लिए आप उसे पानी से धोते हैं, नालियों में फिनाइल डालते हैं, ताकि कीटाणु उत्पन्न न हों।

तो इस आनन्द-मन्दिर में अनादि काल से काम-क्रोध आदि का जो कूड़ा-कचरा जमा हो गया है और होता ही जा रहा है, उसे अपने ज्ञान तथा तप के बल से बाहर निकाल फेंकने की आवश्यकता है। जो उस कूड़े-कचरे का आत्मा से अभाव करते हैं उन्हें अनिवृत्ति भाव की प्राप्ति होती है। अर्थात् काम, क्रोध आदि विरोधी तत्त्वों के सद्भाव का प्रत्याख्यान करने से अनिवृत्तिभाव की प्राप्ति होती है और निवृत्तिभाव की प्राप्ति नहीं होती।

आशय यह निकला कि पापों से निवृत्ति होना ही सद्भाव का त्याग है। बुरी बातों से निवृत्त होना अच्छा है और उनसे निवृत्ति होनी ही चाहिए। ऐसा होने पर ही आत्मा में आत्मिक गुणों की जागृति होती है।

यहाँ अनिवृत्तिभाव शब्द पापों को छोड़ने के लिए प्रयुक्त हुआ है। अर्थात् अपने चुने हुए मार्ग से—निश्चित मार्ग से निवृत्ति नहीं करना है; जो सच्चा मार्ग है, करने योग्य कर्त्तव्य है, आचरणीय है, जिस पर साधक अग्रसर हुआ है, वह उससे पीछे नहीं हटता है। तो संक्षेप में अनिवृत्तिभाव का अर्थ हुआ—श्रेष्ठ मार्ग से पीछे न हटना। साधक उस मार्ग पर निरन्तर गतिशील होता चला जाता है। त्याग और वैराग्य के पथ में तो निवृत्ति न होकर प्रवृत्ति ही होनी चाहिए। साधक ने साधना का जो पथ अंगीकार किया है, वह उससे अनिवृत्त ही रहेगा। वह उस मार्ग से निवृत्ति नही करेगा, बल्कि उसमें प्रवृत्ति करेगा।

प्रश्न यह है कि साधक में उस निर्धारित मार्ग से नहीं हटने की और आगे ही आगे बढ़ने की क्षमता कब आएगी ? इसका उत्तर यह है कि ज्यों-ज्यों उसमें राग, द्वेष, काम, क्रोध आदि का अभाव

होता जायगा, त्यों-त्यों वह उस मार्ग पर दृढ़ होता जायगा। जो मनुष्य धर्म के मार्ग पर और मोक्ष के मार्ग पर आगे से आगे बढ़ना चाहता है, उसे आत्मा में विद्यमान विरोधी तत्त्वों की सत्ता को निर्मूल करना होगा। जो त्रुटियाँ, कमियाँ और भूलें हमें मार्ग से विचलित करती हैं, पथ-भ्रष्ट कर देती हैं, उन्हें दूर किया जाना चाहिए। उन त्रुटियों को दूर किये बिना मनुष्य अपने ध्येय पर अटल नहीं हो सकता और आगे नहीं बढ़ सकता। इस प्रकार जो परिस्थितियाँ और खामियाँ पथभ्रष्ट करने वाली है, उनके दूर होने पर अनिवृत्तिभाव प्राप्त होता है। फिर वह साधक अपने धर्मपथ से पीछे नहीं हटता है और आगे ही बढ़ता जाता है।

यह स्थिति तभी प्राप्त होती है जब जीवात्मा अनिवृत्तिभाव को प्राप्त कर लेता है, अर्थात् अपने निर्धारित मार्ग से पीछे नहीं हटने की शक्ति प्राप्त कर लेता है।

यह अवस्था किसको प्राप्त होती है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि गृहस्थभावी क्रिया करने वाले को यह स्थिति प्राप्त नहीं होती, बल्कि ऋषियों, मुनियों और अनगारों को प्राप्त होती है।

'ऋषि' शब्द रिष् धातु से बना है, जिसका अर्थ है देखना अर्थात् ऋषि वही है जो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' अर्थात् जगत् के समस्त प्राणियों को अपने कुटुम्ब के रूप में देखता है। शास्त्र में कहा है— 'नाणेणं मुणी होइ।' अर्थात् ज्ञानपूर्वक मौन रखने वाला ही मुनि पद का अधिकारी होता है। तथा 'तवेण होइ तावसो' अर्थात् तप करने से तपस्वी होता है।

तो मुनि वही है जो पाप के विषय में मौन रक्खे। जहाँ कर्मबंध की बात हो, जिससे आत्मगुणों का घात हो, वहाँ मौन

धारण करना ही मुनि का कर्त्तव्य है। यही नहीं, वह पाप का बंध करने वालों को भी अपनी मर्यादा के अनुसार समझाता है कि तुम अपनी आत्मा को क्यों पतन की ओर ले जाते हो? वह मान जाय तो उत्तम है, अन्यथा अपने आपको तो पाप से बचा ही ले। आखिर लोटे का पानी छाना जा सकता है पर नदी, तालाब अथवा कुआँ तो नहीं छाना जा सकता?

तो पाप कर्मों में जो मौन रखता है उसे 'मुनि' कहते हैं। पाँच महाव्रतों को धारण करने वाले को 'व्रती' कहते हैं। आत्मसाधना करने के कारण वह 'साधक' कहलाता है और इन्द्रियों को संयत रखने से 'संयमी' कहा जाता है। साधु के कोई घर-बार नहीं होता, अतएव वह 'अनगार' कहलाता है। 'तवेण होइ तावसो' विविध प्रकार की बाह्य और आभ्यन्तर तपस्या करने के कारण वह 'तापस' पद से भी अभिहित होता है।

शास्त्रकार कहते हैं कि जो कठोर साधना करके अनिवृत्ति-भाव को प्राप्त हो गये हैं, जो अपने ध्येय पर दृढ़ हो गये हैं, उन्हें दुनिया का कोई भी प्रलोभन निर्धारित पथ से विचलित नहीं कर सकता। इस प्रकार की दृढ़ता और अनिवृत्तिभावना तभी आती है जब आत्मा राग, द्वेष, काम, क्रोध, मद, लोभ, विषयविकार आदि को जीत लेता है। मोहनीय आदि चार घातिया कर्मों के नष्ट होते ही उसे केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति हो जाती है। केवलज्ञान-दर्शन प्राप्त हो जाने के बाद सिर्फ चार अघातिक कर्म ही अवशिष्ट रह जाते हैं।

सर्वप्रथम मोहनीय कर्म का क्षय होता है। मोह क्षय हो जाने से आत्मा में एक प्रकार की लघुता आ जाती है। तत्पश्चात् ज्ञान-

दर्शनावरण कर्मों के क्षय से आत्मा की स्वाभाविक अनन्त ज्ञान-दर्शनमय चेतना आविर्भूत हो जाती है, जिससे आत्मा को सर्वज्ञत्व और सर्वदर्शित्व की प्राप्ति होती है। अन्तराय कर्म के क्षय से अनन्तशक्ति के धारक हो जाते हैं।

यह उत्कृष्ट अवस्था प्राप्त हो जाने पर भी केवली की आत्मा में नाम कर्म की बहुत सी प्रकृतियाँ शेष रहती हैं। वे सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हो गये तो क्या हुआ, अभी मनुष्य तो हैं ही। जाति से पंचेन्द्रिय जाति में हैं। यह सब नामकर्म के उदय का परिणाम है। अतएव केवली में नामकर्म पाया जाता है। गोत्रकर्म की भी सत्ता केवली में होती है—उनको उच्चगोत्र कर्म का उदय है। वेदनीय कर्म के उदय से जनित वेदना भी उनको होती है; यह बात दूसरी है कि वे अपनी अनन्त शक्ति से उसे सहन कर लेते है। बाईस परीषहों में से ग्यारह परीषह भी केवलियों को हो सकते हैं। भूख लगने पर वे आहार ग्रहण करते हैं, यद्यपि वे हमारी तरह भूख से आकुल-व्याकुल नहीं होते।

भगवान् ऋषभदेव स्वामी की चौरासी लाख पूर्व की आयु थी। वे साधु बने और तपश्चरण के अनन्तर केवली हो गये। केवल अवस्था में उन्होंने लाखों पूर्वो का जीवन व्यतीत किया। इतने अर्से तक अन्न के बिना शरीर कैसे ठहर सकता है? यद्यपि अन्तराय कर्म के उदय से उन्हें एक वर्ष तक आहार-पानी नहीं मिला था, किन्तु उनमें वज्रऋषभनाराच संहनन के पुद्गल थे, जिनके कारण वे उस समय को शान्तिपूर्वक निकाल सके। फिर भी यह तो निश्चित है कि यह शरीर अन्न-पानी पर आश्रित है। अन्न-पानी से ही शरीर में रक्त, मांस, अस्थि, वीर्य आदि का निर्माण होता है। अन्न-पानी न

मिलने पर शरीर सूख कर कांटा हो जाता है। भगवान् ऋषभदेव ने आखिर एक वर्ष पश्चात् भोजन लिया ही था।

इसी प्रकार केवली में आयुकर्म का भी उदय है। यद्यपि उन्हें मोक्ष का प्रमाणपत्र मिल गया है, फिर भी आयु कर्म ने उन्हें संसार में बाँध रक्खा है। उस आयु को भोगे बिना वे मोक्ष में नहीं जा सकते—निर्वाण नहीं प्राप्त कर सकते। जो आयु कर्म उन्होंने बाँधा है, उसे तो भोगना ही पड़ेगा।

तो ऐसे केवली भगवान्, जिन्होंने अनिवृत्तिभाव प्राप्त कर लिया है, जो आगे ही जाना सीखे हैं किन्तु पीछे हटना नहीं जानते, जिन्हें किसी प्रकार का भय नहीं रहा है, जिन्होंने विषयविकार के कंटकाकीर्ण और पापमय मार्ग को पार कर लिया है, उन्हें मोक्ष प्राप्त करना ही शेष रह गया है। जब शेष रहे हुए चार अघातिया कर्म भी नष्ट हो जाएँगे तब सिद्ध बुद्ध अजर अमर अविनाशी पद को प्राप्त होंगे। उन्हीं के सब कार्य सिद्ध होते हैं। जो कितने ही कष्ट एवं विघ्न आने पर भी अपने पथ से, ध्येय से विचलित नहीं होते। वे सच्चे साधक सदा के लिये सिद्ध अवस्था प्राप्त कर लेते हैं। वे पुनीत आत्मायें अनन्त अक्षय ज्योति का पुंज बन जाती हैं और समस्त दुःखों से मुक्त हो जाती हैं। वे आत्माएँ शरीर से मुक्त हैं, अतएव शारीरिक और मानसिक वेदनाओं से एवं समस्त प्रकार की आधि व्याधियों से भी छुटकारा पाये हुए हैं।

यह सब किसका फल है? सद्भाव के अर्थात् आत्मा में विद्यमान राग-द्वेष आदि विकारों के प्रत्याख्यान का ही यह सुपरिणाम है।

तो मैं कह रहा था कि जो सद्भाव का अर्थात् विरोधी तत्त्वों का त्याग कर देते हैं और अपनी आत्मा को सत्पथ का पथिक बना लेते हैं, वे मुक्ति प्राप्त करते हैं। उनकी आत्मा में अलौकिक प्रकाश चमकने लगता है।

सज्जनो ! यह आत्मा अनन्त-अनन्त सूर्यों के प्रकाश को लिये हुए है—उनसे भी बढ़ कर प्रकाश वाली है। पर यह प्रकाश का प्रश्न बहुत विचारणीय है। इस प्रकाश की पहेली में बड़े-बड़े साधक भी उलझ जाते हैं। इस समस्या को सुलझाना हरेक के वश की बात नहीं है। बड़े-बड़े पण्डित, शास्त्रज्ञ और कर्म योगी इस अटवी में जाकर मार्ग भूल जाते हैं और कहीं के कहीं जा पहुँचते हैं।

एक समय की बात है कि राजा का दरबार लगा हुआ था। मुसद्दी, वज़ीर और बड़े-बड़े अहलकार तथा राज-पण्डित उपस्थित थे। राजा स्वयं विद्वान् था और विद्वान् होने के कारण विद्वानों का बहुत आदर-सत्कार करने वाला था। जो स्वयं विद्वान् होता है वह विद्वानों की कद्र करता है, जो खुद निरक्षर महाचार्य अर्थात् मूर्ख हो, वह विद्वानों की कद्र नहीं कर सकता। नीति-कार कहते हैं :—

न वेत्ति यो यस्य गुणप्रकर्प,
स तं सदा निन्दति नात्र चित्रम्।
यथा किराती करिकुम्भजाताम्,
मुक्तां परित्यज्य विभर्त्ति गुञ्जाम्।

अर्थात्—जो जिसके उत्तम गुणों को नहीं पहचानता वह उसकी कद्र नहीं करता; यही नहीं, वह उसकी निन्दा भी करता है। वेचारी भीलनी गजमुक्ता को छोड़ कर चिरमी ही ग्रहण करती है। वह हीरों, पन्नों और मोतियों का मूल्य नहीं समझ सकती, चिरमियों को ही वहुमूल्य मान कर धारण करती है और खुश होती है। परन्तु कोई राजरानी या सेठानी उस भीलनी के जेवरों को पहन कर खुश नहीं हो सकती, क्योंकि आखिर चिरमी चिरमी ही है और मोती मोती ही है।

तो भीलनी भले चिरमी ग्रहण करके अपने आपको धन्य मान ले किन्तु जो वुद्धिशाली है, रत्नों का पारखी है, वह उसे देख कर प्रसन्न नहीं हो सकता।

मूर्ख सोचता है—मोती में तो एक ही रंग है जव कि चिरमी में दो रंग हैं—लाल और काला। यह दुरंगी दुनिया है। मगर जो दो रंगों को छोड़ कर एक हो जाता है, वह कीमती मोती वन जाता है।

जो दुरंगी चाल चल रहा है, वह समाजघातक है। यदि सख्त ही होना है तो पत्थर वन जा और नरम ही होना है तो मोम वन जा। वीच की लचरपचर नीति अच्छी नहीं है। यह नीति वड़ी खतरनाक है। जहाँ स्वार्थ साधना हो वहाँ वड़ी नम्रता से 'आइए, पधारिए साहिव' कहना और जव समाजोद्धार का, धर्मप्रभावना का और धर्मोन्नति का प्रश्न उपस्थित हो जाय और वलिदान देने का मौका आ जाय तो उस समय पत्थर की तरह कठोर वन जाते हैं। कदाचित् पत्थर पिघल जाय मगर वे माँ के

पूत नहीं पिघलते हैं। ऐसो दुरंगी चाल चलने वाले कभी मंज़िल पर नहीं पहुँच सकते।

हाँ, तो राजा का दरबार लगा हुआ था और अनेक प्रकार की राजकीय चर्चाएँ चल रही थीं। प्रकाश की समस्या भी बड़ी विचित्र है। राजसभा में भी प्रकाश सम्बन्धी चर्चा चल पड़ी। विद्वान् होने के कारण राजा विद्वानों का खूब आदर करता था और उसके दरबार में अनेक उच्च कोटि के विद्वान रहते थे।

आज इस देश में संस्कृत साहित्य के विद्वान् गलियों में भटकते फिरते हैं और बड़ी मुश्किल से उन्हें आजीविका का साधन मिलता है। जो अंग्रेज़ी जैसी विदेशी भाषा के उपाधिधारी हैं, उन्हें फौरन ऊँचा ओहदा मिल जाता है, किन्तु संस्कृत भाषा के बड़े-बड़े विद्वान्, महामहोपाध्याय, आचार्य और शास्त्री बेचारे शाक-भाजी की तरह बिकते हैं। इस प्रकार आज भौतिकवादियों का सन्मान किया जाता है, जो बड़ी-बड़ी विस्फोटक और संहारक चीजें तैयार कर सकते हैं। जो भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के वेत्ता हैं, आत्म-वेत्ता हैं, अध्यात्मवादी हैं, उन्हें कोई पूछने वाला भी नहीं मिलता।

गुणों की कद्र वही कर सकता है जो स्वयं गुणी हो। जौहरी ही जवाहरात की परीक्षा कर सकता है, बेचारे कूंजड़े उनकी क्या परख करेंगे। वे तो शाक-भाजी बेचने वाले हैं।

तो प्रकाश का प्रसंग छिड़ गया तो राजा ने सोचा—जब यह विषय चल पड़ा है तो आज इसी विषय में इन पण्डितों के दिमाग की परीक्षा कर ली जाय। देखा जाए कि कौन कितने गहरे पानी में है? किसका मस्तिष्क कितना उर्वर है।

राजा ने सुन्दर अवसर जान कर सब के सामने एक समस्या रख दी। कहा—पण्डितगण, बताइए, सब से उत्तम प्रकाश किसका है।

सभी पण्डितों ने राजा के प्रश्न को भली-भाँति सुन लिया और वे उस पर विचार-मनन करने लगे। फिर एक पण्डित खड़ा हुआ और कहने लगा—संसार में सब से अधिक निखरा हुआ और समस्त लोक को उद्भासित करने वाला प्रकाश यदि कोई है तो वह सूर्य, भानु, भास्कर, दिवाकर, दिनकर या आफताब का है। सूर्य के उदय होते ही अखिल भूमण्डल आलोक से आलोकित हो उठता है। अन्धकार क्षण भर में सर्वथा विलीन हो जाता है। अतएव सब से उत्तम, उग्र, प्रचण्ड और उद्दाम प्रकाश सूर्य का ही है।

इतनी बात तो प्रत्येक समझता है और राजा भी समझता था। फिर भी उसने जो प्रश्न किया तो उसमें कुछ गहराई होनी चाहिए। उसे समझना चाहिए था कि राजा ऊपर ही ऊपर नहीं तैर रहा है। उसने गहरा गोता लगाया है। उसे गहरे दिमाग से उत्तर देना था।

राजा ने सोचा— हरएक के विचार सुनने ही चाहिएँ और सुने बिना यथार्थ निर्णय नहीं हो सकता। जब पण्डित जी की सूर्य के प्रकाश की कहानी पूर्ण हो गई तो राजा ने कहा—ऐसा हो सकता है, परन्तु क्या इससे भी बढ़िया प्रकाश किसी और का हो सकता है ?

तब दूसरा पण्डित खड़ा हुआ और बोला—मैं पहिले वाले पण्डित जी का समर्थन करता हूँ कि सूर्य का प्रकाश सबसे अधिक उग्र है, किन्तु सूर्य-प्रकाश के अलावा भी एक उत्तम प्रकाश है जो

अतीव शीतल और सुहावना होता है। वह सुधानिधि चन्द्रमा का प्रकाश है। सूर्य का प्रकाश ऊष्ण और त्रासजनक होता है। जब तरणि अपने पूर्ण तारुण्य पर पहुँचता है, मध्याह्न में अपनी उत्तप्त किरणें विकीर्ण करता है तो प्राणि मात्र त्राहि-त्राहि करने लगते हैं। सूर्य के प्रकाश में यही सबसे बड़ा दोष है।

चन्द्रमा का प्रकाश कितना शीतल, कितना शान्ति-दायक, कितना आह्लादकर और कितना सौम्य है! कोई सूर्य की ओर टकटकी लगा कर देख ले तो उसे सूर्य इतना कठोर दंड देता है कि उसका देखना ही बंद हो जाता है। कम से कम नेत्रों को क्षति तो अवश्य पहुँचती है। इसके विपरीत, चन्द्रमा की ओर टकटकी लगाने से नेत्रज्योति की वृद्धि होती है। नेत्रों की परिश्रान्ति दूर हो जाती है। पूर्णमासी की धवल रजनी में जब चन्द्रमा अपनी समस्त कलाओं के साथ प्रकाशित होता है और उसकी चन्द्रिका महीमण्डल पर फैलती है तो समस्त पदार्थ ऐसे प्रतीत होते हैं मानों दूध के धोये हुए हों। उस समय कवियों की कमनीय कोमल कल्पना बरबस अंगड़ाइयाँ लेती हुई उठ खड़ी होती हैं और उनके करकमल कलम की ओर जा पहुँचते हैं। चन्द्रमा उनके अन्तरतर के विविध सुप्त भावों को जागृत कर देता है। ऐसा सुहावना और चित्त को प्रफुल्लित कर देने वाला प्रकाश निशापति चन्द्रमा का है। कुमुदिनी भी चन्द्रमा का प्रकाश होने पर ही विकसित होती है। अतएव मेरी सम्मति में सब से उत्तम प्रकाश चन्द्रमा का है।

इस प्रकार दूसरे पण्डित ने अपना अभिप्राय प्रकट किया और अपनी रामायण समाप्त की।

उसके यथास्थान बैठ जाने के पश्चात् तीसरा पण्डित खड़ा हुआ और कहने लगा—राजन् ! पहले पण्डित जी ने सूर्य के और दूसरे पण्डित ने चन्द्रमा के प्रकाश को उत्तम बतलाया है। किन्तु मुझे निस्संकोच रूप से कहना चाहिए कि इन विद्वानों की दृष्टि बड़ों-बड़ों की तरफ ही गई है, छोटे प्रकाशों को तरफ नहीं गई। इनके नेत्र स्थूल पदार्थों को ही देखते हैं, सूक्ष्म को नहीं देख पाते। मेरी सम्मति में सूर्य और चन्द्रमा के स्थूल प्रकाश से भी एक उत्तम छोटा-सा प्रकाश है। सूर्य उदित होता है तो वह बड़े-बड़े पहाड़ों, नदियों, नालों, मकानों आदि को तो प्रकाशित कर देता है किन्तु अंधेरे भौंयरे (भूगृह) को प्रकाशित नहीं कर सकता। मगर एक छोटा-सा मिट्टी का दीपक जला लिया जाता है तो वह उस भौंयरे के गहन अंधकार को क्षण भर में विनष्ट कर देता है। अतएव मेरे विचार में दीपक का प्रकाश अत्यन्त उपयोगी होने से सब से बढ़िया है।

याद रखिए, जहाँ चन्द्रमा और सूर्य भी अंधकार का प्रतीकार करने में असमर्थ सिद्ध होते हैं, वहाँ उस अंधकार को दूर करने का श्रेय यदि किसी को दिया जा सकता है तो वह छोटा-सा दीपक ही है। जो उदारता छोटे-से दीपक में है, वह न सूर्य में है और न चन्द्र में ही है। अतएव दीपक को छोटा समझ कर उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

किसी भी इकाई को छोटी समझ कर, किसी बिरादरी, राष्ट्र, संस्था या समाज को छोटा समझ कर उसकी उपेक्षा करना, उसका निरादर करना और उसका समुचित मूल्य न आंकना अत्यन्त अनुचित है। संसार को दोनों की छोटों और बड़ों की—

आवश्यकता है। छोटों का काम छोटों से और बड़ों का काम बड़ों से होता है। जब मकान बनवाया जाता है तो छोटी और बड़ी दोनों ही तरह की ईंटें काम में लाई जाती हैं। लेकिन याद रखना भक्तो! दीवार में जो मज़बूती छोटी ईंटों से आती है, वह बड़ी ईंटों से नहीं आती। कदाचित् मकान में से एक बड़ी ईंट खिसक जाती है तो फिर सब का गिरना शुरु हो जाता है। छोटी-छोटी ईंटों से जो दीवार बनी होगी, वह यदि भूकंप से, वर्षा के आधिक्य से या और किसी कारण से गिरती है तो पूरी की पूरी दीवार गिरती है या बिल्कुल नहीं गिरती है। तो वह छोटी ईंटें कहती हैं—यदि हम जियेंगी तो साथ में जियेंगी और मरना होगा तो भी साथ में ही मरेंगी। एक-एक करके, अलग-अलग हमें मरना और जीना नहीं आता।

तो सज्जनो! इस प्रकार की उदारता बनाये रखने की आवश्यकता है और वह छोटों में मिल सकती है। आज आप प्रत्यक्ष ही देख रहे हैं कि मज़दूर संगठनों में और छोटी-छोटी इकाइयों में अपने भाइयों को अपनाने की जो उदारता है, वह बड़ी-बड़ी जातियों में, वर्गों में नहीं पाई जाती। किसी मिल, फैक्ट्री या कारखाने से एक मज़दूर को पृथक् कर दिया जाता है तो शेष मज़दूर उसकी मदद में हड़ताल कर देते हैं। अपनी मांग को पूरी करने के लिए भी सब मिल कर हड़ताल कर देते हैं। इस संगठन के बल पर उन्हें प्रायः सफलता भी मिलती है। सरकार को भी उनके संगठन के सामने झुकना पड़ता है।

मज़दूर वर्ग का संकल्प है कि हम जीयेंगे तो अपने साथियों के साथ जीयेंगे और मरेंगे तो भी एक दूसरे की भलाई के लिए ही मरेंगे।

मगर जो अपने आपको चन्द्रमा और सूर्य मान बैठे हैं तथा आकाश में लटक रहे हैं, उनमें संगठन की यह भावना नहीं है। आज समाज में जो नये-नये प्रश्न खड़े हो रहे हैं, वे झगड़े के प्रश्न ही खड़े न होते यदि उन बड़ों में सगठन की भावना होती।

तो समाज में छोटी और बड़ी ईंटों की भी आवश्यकता है। जहाँ बड़ी दरार होती है वहाँ बड़ी ईंटें भरते हैं और जहाँ जगह खाली रह जाती है, बड़ी ईंट नहीं समा सकती है उस जगह की पूर्त्ति छोटी ईंट लगा कर की जाती है। इसलिए बड़ी ईंटों की ओर दृष्टि रख कर छोटी ईंटों की उपेक्षा मत करो।

ओ बड़ी ईंट, जहाँ तुझसे काम नहीं चलेगा, वहाँ तेरी जगह छोटी ईंट काम आएगी और वही उस जगह की पूर्त्ति करेगी। अगर तुमने छोटी ईंटों को संभाल कर नहीं रक्खा तो याद रखना, उस जगह की पूर्त्ति के लिए तुमको ही अपने सिर फुड़वाने पड़ेंगे।

दीवार तो अवश्य बन कर ही रहेगी और मजबूत बनेगी। अतः बेहतर यही है और अक्लमंदी इसी में है कि बड़ी ईंटें और छोटी ईंटें को-ओपरेशन (सहयोग) कर लें, मिल कर रहें। इसी में दोनों की आन और शान है। यदि बड़ी ईंटें अपने घमंड में ही रहीं और उन्होंने छोटी ईंटों की उपेक्षा की तो याद रखना, उस मकान बनाने वाले राज के हथौड़े बड़ी ईंटों पर ही पड़ेंगे। तुम्हारे टुकड़े-टुकड़े करके उस दरार को भरना होगा और मजबूत बनाना होगा। इसलिए तुम बड़ी ईंटें होने का घमंड मत करो और छोटी ईंटों से सम्पर्क एवं प्रेम भाव बनाये रक्खो, ताकि तुम भी अपने स्थान पर बनी रहो और छोटी ईंटों की भी शान चमकती रहे। ऐसा करने से वे भी तुम्हारी सहायक बन सकेंगी।

भद्र पुरुषो ! जाति, समाज, संघ का कार्य करने के लिए बड़ों की भी ज़रूरत रहती है और छोटों की भी । जहाँ थोड़ी जगह भरनी है वहाँ छोटों की आवश्यकता है और बड़ी जगह की पूर्त्ति करने के लिए बड़ों की आवश्यकता होती है । छोटी जगह पर छोटी और बड़ी जगह पर बडी ईंटें लगा करती है । छोटी जगह में बड़ी ईंट लगाना चाहोगे और बड़ी जगह में छोटी से काम निकालना चाहोगे तो काम नहीं बनेगा ।

यदि किसी का भी नुकसान नहीं करना है और दोनों को सही-सलामत जिंदगी बसर करनी है तो बड़ी जगह की पूर्त्ति बड़े करें और छोटी जगह छोटे संभाले । बड़ी ईंटों को किसी समय काम में तो आना ही पड़ेगा । उन्हें पूजने के लिए तो बड़ी नहीं बनाया गया है, काम में आने के लिए ही बनाया गया है । अतएव दोनों अपना-अपना फर्ज समझ कर अपनी-अपनी जगह लग जाएँ तो समाज-जाति-राष्ट्र-सब फलेगा-फूलेगा और उत्तरोत्तर विकास करता जायगा । दोनों समाज रूपी भवन को पूरा करने में लग जाएँगे तो सुन्दर भवन निर्मित हो जायगा और सब को आश्रय तथा आराम मिलेगा ।

अरे, क्या तू अपना मकान बनाने के भी योग्य नहीं है ? सब चाहते है कि सर्दी, गर्मी और वर्षा से हमारी रक्षा हो, किन्तु माँ के पूत ईंट बन कर लगने को तैयार नहीं हैं । यह कोई मदारी का रुपया नहीं है जो छू-मन्तर कहते ही हाथ में आ जायगा । रुपया तो बनाने से ही बनेगा ।

हाँ, तो तीसरे पण्डित ने कहा—घर के अन्दर तहखानों में तथा भौंयरों में यदि कोई चन्द्र या सूर्य प्रकाश करने वाला है तो वह छोटा-सा दीपक ही है ।

सज्जनो, जैन शास्त्रों ने भी छोटे-से दीपक की उपेक्षा नहीं की है। किन्तु तुम लोग आज उनके प्रति उदासीनता दिखाते हो। उनकी कोई कीमत ही नहीं आँकते। मगर तुम जिन चन्द्रमा और सूर्य को ही सर्वेसर्वा समझ बैठे हो, वे तो ठीक हैं, किन्तु याद रहे चन्द्र-सूर्य जहाँ काम नहीं कर सकते, वहाँ छोटा-सा दीपक काम कर जाता है।

सज्जनो! जैन सिद्धान्त कितना उदार है! उसने तीर्थंकरों को 'चदेसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहिय पयासयरा' अर्थात् भगवान् चन्द्रमा से भी अधिक निर्मल हैं और सूर्य से भी अधिक प्रकाशक है; ऐसा कह कर जहाँ जैनशास्त्र के निर्माताओं की दृष्टि आकाश में सूर्य और चन्द्रमा की तरफ गई, वहाँ उनकी दृष्टि छोटे-से दीपक को भी अनदेखा न कर सकी। वह भी उनकी दृष्टि से ओझल नहीं रह सका। 'लोगस्स' के पाठ में तीर्थंकरों की स्तुति और महिमा करते हुए अगर उन्हें चन्द्र-सूर्य की उपमा दी तो उन्हें 'लोगपईदाणं' भी कहा, अर्थात् दीपक के साथ भी भगवान् की तुलना की। इस से स्पष्ट है कि शास्त्रकारों के दिमाग कितने सुलझे हुए थे! वे हर पहलू को भली-भाँति देखते थे।

वास्तव में दीपक में जो उदारता है, वह चन्द्र-सूर्य में भी नहीं है। चन्द्रमा और सूर्य दूसरे चन्द्र-सूर्य को जन्म नहीं दे सकते परन्तु दीपक में यह उदारता है, विशेषता है कि एक दीपक अनेक दीपकों को उत्पन्न कर देता है। एक दीपक से आप चाहें तो असंख्य दीप जला सकते हैं। एक छोटा-सा दीपक है, उसका छोटा-सा प्रकाश है और वह मकान में थोड़ी सी जगह रोकता है, फिर भी उसकी महिमा देखो। वह जिस दीपक का स्पर्श कर लेता है, उसी को प्रकाशित कर देता है।

एक बात ध्यान में रखना चाहिए कि दीपक उसी दीपक को प्रकाशित-प्रदीप कर सकता है जिसमें तेल और बत्ती हो। बिना तेल-बत्ती का दीपक प्रकाशित नहीं हो सकता। जिस दीपक में स्नेह-तेल होता है, वह दीपक के स्पर्श मात्र से प्रज्वलित हो उठता है।

संस्कृत भाषा में स्नेह का अर्थ चिकनापन-तेल भी है और प्रेम भी है। तो जैसे नन्हा-सा दीपक स्नेह होने से दूसरे स्नेहसहित दीपकों को प्रकाशित कर देता है, उसी प्रकार जिस व्यक्ति के हृदय में स्नेह-प्रेम है, जो सभी को अपने भाई की दृष्टि से देखता है, वह दूसरों को भी प्रकाशित कर देता है। जहाँ स्नेह नहीं वहाँ चन्द्रमा और सूर्य के प्रकाश भी असफल सिद्ध होते हैं।

किसी ने दीपक से पूछा—ऐ दीपक! तुम बुझते क्यों जा रहे हो? यद्यपि जड़ दीपक उत्तर नहीं दे सकता, मगर कवि भी बड़े जबर्दस्त होते हैं। वे ऐसे पदार्थों से प्रश्न करके स्वयं ही उनकी ओर से उत्तर दिया करते हैं। तो दीपक प्रश्न का उत्तर देता है—ऐ प्रश्नकर्त्ता! दुनिया में यदि जिंदा रहना है तो जिंदा रहने के तरीके से ही जिंदा रहना चाहिए। अगर जीवन में जिंदा रहने की चीज नहीं है तो जिंदा न रह कर मर जाना ही उसके लिए श्रेयस्कर है। जब मुझ में स्नेह (तेल) ही न रहा तो कैसे जिंदा रहूँ? ऐसे जीवन की क्या सार्थकता है? कवि कहता है—

स्नेहहीन जग जीने से तो मरना भला कहाता,
अतः स्नेह बिन दीपक तू भी झटपट स्वर्ग सिधाता॥

कवि ने दीपक के जीवन की प्रशंसा करते हुए कहा—ऐ दीपक! वास्तव में तुमने जीवन के उद्देश्य को भली-भाँति समझा है।

तो दीपक कहता है—जब मेरे जीवन में से स्नेह (प्रेम-तेल) ही समाप्त हो गया तब स्नेहहीन हो कर जीने से भी क्या लाभ है ? संसार में भारभूत होकर मैं जीवित नहीं रहना चाहता। यों ही कपड़े फाड़ने और टट्टियाँ खराब करने की अब क्या आवश्यकता है ? जब तक जीवन में स्नेह था, मैं बराबर प्रकाश दे रहा था। जब स्नेह समाप्त हो गया तो मुझे जीने का अधिकार नहीं है। संसार में उन्हीं को जीवित रहने का अधिकार है, जिनमें स्नेह है।

कौन-सा समाज, जाति, संघ और राष्ट्र जीवित रहता है ? जिसमें लबालब स्नेह भरा रहता है, जिसके हृदय पारस्परिक स्नेह से परिपूर्ण होते हैं। जिस जाति, समाज और देश में से स्नेह खत्म हो जाता है, वह समाज और देश भी खत्म हो जाता है। वह मुर्दे के समान निस्तेज हो जाता है।

सज्जनो ! बुझता हुआ दीपक भले थोड़ी देर तक थोड़ा-थोड़ा प्रकाश करता नज़र आता है, मगर आखिर में वह बुझ जाने वाला है, इसी प्रकार कोई समाज, जाति, संघ या राष्ट्र थोड़े-से स्नेह के कारण भले अपने को जीवित माने किन्तु अन्ततः उसका अधःपतन और विनाश अवश्यंभावी है।

तो मैं कह रहा था कि एक छोटा-सा दीपक भी हजारों लाखों दीपकों को प्रकाशित करता जाता है, किन्तु जब तक उसमें स्नेह है तभी तक यह समर्थ है। जिसके हृदय में द्वेष-दावानल धधक रहा है, वह उसी को नष्ट कर देता है।

दूसरी बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि जो विरोधी उसके ऊपर आते हैं, वह एक-एक को खत्म करता जाता है। इस प्रकार वह विरोधी तत्त्वों का डट कर मुकाबिला करना भी जानता है।

अतएव तीसरा पण्डित कहता है—राजन्! इन विद्वानों को सूर्य और चन्द्रमा तो नज़र आ गये किन्तु वह छोटा-सा प्रदीप नज़र नहीं आया। दीपमालिका पर्व पर नवीन दीपक खरीद कर लाते हैं और उन्हें जलाते हैं और वे दीपक कण-कण को आलोकित कर देते हैं। वह दृश्य कितना नयनाभिराम, कितना सुहावना एवं कितना मनोहर होता है? एक कतार में सब की समान ज्योति दर्शकों के दिल को मोहित कर देती है और अमावस्या को भी पूर्णमासी में परिणत कर देती है। अतएव मेरी सम्मति में दीपक का प्रकाश सब प्रकाशों में उत्तम है।

इस प्रकार तीन विद्वानों ने अपनी-अपनी मति के अनुसार तीन प्रकाशों को उत्तम सिद्ध करने का प्रयत्न किया।

उसी दरबार में एक बड़ा दार्शनिक और आध्यात्मिक भावों को समझने वाला पण्डित भी था। वह अभी तक मौन भाव से सब का कथन सुन रहा था। राजा ने उसकी ओर दृष्टि डाल कर कहा—पण्डित जी! आप न्याय और धर्मशास्त्र के ज्ञाता हैं। सब ने अपना-अपना अभिप्राय प्रकट कर दिया है, अब आप भी प्रकाश के सम्बन्ध में अपनी सम्मति प्रकट कीजिए। हम आपका अभिप्राय भी सुनने के इच्छुक हैं।

इस प्रकार राजा के अनुरोध करने पर उस दार्शनिक पण्डित ने कहना आरम्भ किया—पूर्व वक्ताओं ने सूर्य, चन्द्र और दीपक के प्रकाश को उत्तम सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। सूर्य का प्रकाश भी प्रकाश ही है। वह न हो तो दिन कभी हो ही नहीं। इसी प्रकार चन्द्रमा का प्रकाश भी अपने स्थान पर उत्तम है। दीपक के प्रकाश की उपयोगिता को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इनमें से

किसी भी प्रकाश की उपेक्षा नहीं की जा सकती। किन्तु इन सबको प्रकाशित करने वाला और विशेष मूर्त्त रूप देने वाला यदि कोई प्रकाश है तो वह इन दो आँखों के ताराओं का प्रकाश ही है। वह प्रकाश न आकाश में रहता है और न घर में ही रहता है। वह आँखों में रहता है। यद्यपि वह अत्यन्त लघुकाय प्रतीत होता हैं, तथापि वही समस्त प्रकाशों का प्रकाशक और बोधक है। इन नन्हीं-नन्हीं आँखों में जो छोटे-छोटे दो तारक हैं, उनमें से निकलने वाला प्रकाश सब प्रकाशों को जीवन देता है। यदि यह प्रकाश है तो सूर्य, चन्द्रमा और दीपकों का अस्तित्व प्रतीत होता है और यदि यह प्रकाश गुल हो जाय तो हजार दिवाकर और निशाकर भी व्यर्थ हो जाते हैं। फिर संसार के सभी प्रकाश और प्रकाश्य पदार्थ अभेद्य अंधकार में विलुप्त हो जाते हैं। जिसके नेत्रों का प्रकाश समाप्त हो गया, उसके लिए समग्र विश्व मानों शून्य में परिणत हो गया।

सूर्य चन्द्रमा और दीपक का मूल्यांकन करने वाला कौन है ? आँखों का प्रकाश।

अभिप्राय यह है कि जैसे नेत्रों में प्रकाश हो तो हमें चन्द्रमा, सूर्य और दीपक से भी प्रकाश मिल सकता है और वही न हुआ तो कहीं से नही मिल सकता; इसी प्रकार अगर हमारे जीवन में विवेक है, समझ है, बोध है, आन्तरिक प्रकाश है तो हम प्रत्येक ग्रंथ से, पुस्तक से या शास्त्र से प्रकाश प्राप्त कर सकते हैं। आपको जैन ग्रन्थों से भी और जैनेतर ग्रन्थों से भी प्रकाश मिल जायगा। फिर आप प्रकाश ही प्रकाश की दुनिया में विचरण करेंगे। और यदि वही आन्तरिक प्रकाश जीवन में न होगा तो अन्यत्र कहीं भी प्रकाश न प्राप्त हो सकेगा।

तो उस दार्शनिक विद्वान् ने आँखों के तारकों को समस्त प्रकाशों का केन्द्र बतलाया। किन्तु सज्जनो ! उस से भी बढ़ कर एवं गहराई में उतर कर देखें तो विदित होगा कि सर्वोत्कृष्ट प्रकाश आत्मिक प्रकाश है। नेत्रों के द्वारा प्रस्फुटित होने वाला प्रकाश वास्तव में नेत्रों का नहीं, आत्मा का है और आत्मा के अनन्त प्रकाश की धूमिल रश्मि मात्र है। आत्मा का प्रकाश ही विभिन्न इन्द्रियों द्वारा विनिर्गत होता है। आत्मा में प्रकाश है तो बाहर से भी प्रकाश मिल जायगा। अगर आत्मिक प्रकाश ही बुझ गया है तो कहीं से भी कुछ मिलने वाला नहीं है।

सज्जनो ! समय निकल जाता है और बात रह जाती है। यह काया-माया किसी के साथ जाने वाली नही है। इससे जो लाभ उठाया जा सके, उठा लेना चाहिए।

तो मैं कह रहा था कि सद्भावप्रत्याख्यान करने से अनिवृत्ति भाव प्राप्त होता है। जो आत्मा अनिवृत्ति भाव प्राप्त करती है वह संसार-समुद्र से पार हो जाती है।

ब्यावर
१४—१०—५६

———

जीवन का आदर्श

उपस्थित महानुभावो !

अभी-अभी आप लोगों ने मंगलाचरण रूप एक भजन सुना है और वह आवाज आपके कानों में पड़ गई होगी। जिनकी श्रोत्रेन्द्रिय काम करती हैं, उन्होंने उस भजन को सुन लिया है। किन्तु सुन लेना कोई बड़ी बात नहीं है, क्योंकि शब्द के पुद्गलों को ग्रहण कर लेना कानों का स्वभाव ही है। महत्त्व की बात तो यह है कि सुने हुए शब्दों की ध्वनि हृदय तक पहुँचे। शब्द मनुष्य के हृदय में उतर जाने चाहिएँ। इसी में सुनने की सार्थकता है।

जो वाणी केवल कानों तक सीमित रह जाती है और अन्त-स्थल तक नहीं पहुँचती, वह कितनी ही कल्याणमयी क्यों न हो, लाभदायक नहीं हो सकती। अतएव वाणी सुन कर उसे जीवन में उतारने का प्रयत्न करना चाहिए। अगर कोई रोगी दवा की घूंट मुँह में ही रख ले और पेट में न उतारे तो उसके शरीरगत रोगों को निवारण करने में वह सफल कैसे हो सकती है ?

सज्जनो ! हमारा कहना मात्र कहने के लिए और आपका सुनना मात्र सुनने के लिए नहीं है। उसे जीवन में उतारना चाहिए, व्यवहार में लाना चाहिए और उसके अनुकूल ही आचरण करना चाहिए। तभी वह श्रवण जीवन को ज्योतिर्मय बना सकता है; संस्कारित कर सकता है।

इस भजन में यही बतलाया गया है कि मनुष्य भौतिक—पौदगलिक पदार्थों को प्राप्त करके अभिमान क्यों करता है ? इन्हें

प्राप्त करने के लिए चोटी से एड़ी तक पसीना बहाना पड़ता है, सुख को तिलांजलि देकर रात-दिन पचना पड़ता है, न जाने कितने पापों का उपार्जन करना पड़ता है, पर नष्ट होने में किंचित् भी देर नहीं लगती।

आपका अनुभव साक्षी है कि इमारत बनाने में वर्षों पूरे हो जाते हैं और हजारों- लाखों रुपये खर्च करने पड़ते है, आवश्यक सामग्री जुटानी पड़ती है, समय लगाना पड़ता है, मगर गिराने में कितनी देर लगती है ? जितने वर्ष बनाने में लगते हैं, उतने दिन भी उसे नष्ट करने में नहीं लगते। आधुनिक साधन मिनटों में उसका सफाया कर सकते हैं।

किसी साहित्य का निर्माण करने में लम्बा काल लगाना पड़ता है, परन्तु नष्ट करने में, उसे मिटाने में कुछ भी देर नहीं लगती।

यही स्थिति समग्र पदार्थों की है। मनुष्य को पूर्वार्जित पुण्य के उदय से सब प्रकार के सुख-साधन प्राप्त हो जाते हैं। जिसने पूर्व जन्म में रहमदिली से काम लिया और परहेज़गारी से जिन्दगी बसर की है वह हर एक बेशकीमती चीज़ हासिल कर लेता है। किन्तु बुद्धिमत्ता इस बात में है कि वस्तुओं के मिल जाने पर उनका दुरुपयोग न किया जाए। पुण्योदय से प्राप्त हुए धन का यदि जुआ खेलने, शराब पीने, मांस-अंडे खाने या वेश्यागमन आदि दुर्व्यसनों के पोषण में व्यय करके दुरुपयोग किया गया तो मै कहूँगा कि उस धन के मिलने से न मिलना ही श्रेयस्कर था। अतएव प्राप्त धन का सदुपयोग करने में ही मनुष्यत्व है।

तुम्हें जो धन मिला है उससे अपना और अपने परिवार का पोषण करने के साथ जो दीन-दुखियों की भी सेवा करता है, और धर्म कार्य में व्यय करता है, वही बुद्धिमान् है और वही विवेकशाली है। यों अपनी-अपनी जिन्दगी तो सभी पूरी कर जाते हैं। कहा है—

आत्मार्थमस्मिन् लोके, को न जीवति मानवः।
परोपकारार्थं यो जीवति स जीवति ॥

अपना जीवन सुख में व्यतीत करने के लिए ऐसा कौन-सा इन्सान, हैवान या प्राणि है, जो कोशिश न करता हो ? छोटी-सी कीड़ी भी दिन भर इसी चक्कर में घूमती रहती है। जंगल में जन्म लेने वाले मकौड़े भी, जब घास के बीज उत्पन्न हो जाते हैं और पक जाते हैं तो अपने जत्थे बना कर जाते हैं और कई बार फिर-फिर कर उन दानों को ला कर बिल में जमा करते हैं। वे भी सोचते हैं कि यही हमारी कमाई के दिन है और हमें इस अवसर का लाभ उठा ही लेना चाहिए, ताकि बाद में हम बिल में बैठे-बैठे आराम से खा सकेंगे।

इस प्रकार छोटे-छोटे जन्तु भी अपने लिए बिल बनाते हैं और अनाज भी इकट्ठा करते हैं। अगर मनुष्य में भी इतनी ही चेतना है और वह भी यदि घर बनाने एवं खाने-पीने की ही फिक्र में रहता है और परमात्मा की भक्ति को जीवन में स्थान नहीं देता तो आप ही सोचिए कि मनुष्य में और कीड़े-मकौड़े में क्या अन्तर रह जाता है ? हाँ, शरीर की आकृति में अवश्य अन्तर है। मनुष्य का डीलडौल बड़ा और लम्बा-चौड़ा है और वे मनुष्य की उंगली के एक पर्व से भी छोटे हैं।

सज्जनो ! क्या मानव जीवन की महत्ता इसी में है। जब कीड़ों-मकौड़ों की वासनाएँ तुम्हारे जीवन में भी काम कर रही हैं तो तुम्हारा बड़प्पन क्या रहा ?

याद रक्खो, मनुष्य के जीवन का ध्येय इतना नीचा नहीं है। उसका आदर्श सिर्फ खाने, पीने या घर बनाने तक ही सीमित नहीं है। खाना है, पीना है किन्तु खा-पी कर इस जीवन से कुछ विशिष्ट अर्थ भी साधना है। जीवन की रक्षा में ही समग्र जीवन को नहीं व्यतीत कर देना है।

भाइयो, दुनिया में आकर मरना तो अवश्यंभावी है। प्रकृति के इस अटल विधान को कोई टाल नहीं सकता। किन्तु कीटों की भाँति जीवन यापन करके—खा-पी कर—ही मनुष्य को नहीं मर जाना है। उर्दू का शायर कहता है—

हमेशा के लिए जिन्दा वही इस दारेफानी में।
मेहर बनकर अजब चमके जो अपनी जिंदगानी में।

शायर कहता है—इस विनाशशील विश्व में सदा के लिए वही जीवित रहता है जो अपने जीवन को चमका लेता है।

यह संसार परिवर्तनशील है। आज यहाँ ऊँचे-ऊँचे सुरम्य भवन दृष्टिगोचर हो रहे हैं, एक से एक उत्तम मनमोहक दृश्य दिखाई दे रहे हैं, बिजली का अनूठा प्रकाश जगमगा रहा है, मोटरों और ट्रामों की ध्वनि कर्णगोचर हो रही है और सब प्रकार के जीवनोपयोगी साधन उपलब्ध हैं, वहीं कभी सुनसान अरण्य हो जाता है और किसी समय बीहड़ जंगल भी सुन्दर नगर के रूप में

परिणत हो जाते हैं। पंजाब प्रान्त में चण्डीगढ़ जंगल था। किन्तु वही अब पंजाब की राजधानी बन रहा है और बहुत कुछ बन चुका है। उस जंगल की हालत ही बदल गई।

तो संसार में पल-पल पर परिवर्तन हो रहा है। जहाँ बस्ती होती है वहाँ उजाड़ हो जाता है और उजाड़ बस्ती बन जाता है। संसार कभी न एक सरीखा रहा और न रहने वाला है।

भगवान् फर्माते हैं—यह संसार एक अटवी के समान है और सदा एक समान रहने वाला नहीं है। संसार था और है और इसमें मखलूक थी और रहेगी, किन्तु तब्दीली होती रहेगी। परिवर्तन प्रकृति का अनिवार्य विधान है और कोई शक्ति उसे अवरुद्ध नहीं कर सकती। एक दशा कभी रहने वाली नहीं है।

कवि कहता है—चन्द्रमा रात्रि में प्रकाश करता है, अन्धकार का निवारण करता है, फिर भी चोरों के लिए तो वह शत्रु के समान है। चोर सोचता है यह शत्रु कहाँ से पैदा हो गया! चोरों के लिए तो अमावस्या की रात्रि ही मित्र के समान है। उसी में उनका उल्लू सीधा होता है। परन्तु चोर को चन्द्रमा अच्छा लगे या न लगे, वह तो यथासमय प्रकाश करेगा ही। उसके उदय से साधु पुरुष प्रसन्न और चोर अप्रसन्न होता है तो इसमें चन्द्रमा का क्या दोष है? किसी ने ठीक ही कहा है—

> ज़िंदगी ऐसी बना, ज़िंदा रहे दिल शाद तू।
> जब न हो दुनिया में तो दुनिया को आए याद तू॥
> मुबारिक हैं जो दिल में दूसरों का दर्द रखते हैं।
> आंखों में आंसू और लब पै आहें सर्द रखते हैं॥

शायर कहता है—कीड़ों-मकौड़ों की तरह जन्म लेकर मर

जाना ही जिंदगी नहीं है। तू अगर मनुष्य जीवन में आया है तो ऐसी जिंदगी बना ले कि तेरा दिल शाद-खुश-रहे अर्थात् तेरी ज़िंदगी में कभी दिलगीरी, फिक्र, चिन्ता न हो। तू दुनिया में जितने दिन भी जिंदा रहे, खुश होकर ही जिंदा रह । यदि रो-रो कर, झूर-झूर कर हाड़ सुखा लिए तो वह जिंदगी में जिंदगी नहीं है।

किन्तु तेरा दिल कब शाद होगा ? जब इस जिंदगी में तू खुशी के काम करेगा अर्थात् किसी का भला करेगा। जिसका भला करेगा उसका दिल तो शाद होगा ही किन्तु तेरा दिल भी शाद होगा। तुझे आन्तरिक तोष प्राप्त होगा । जब रहम (दया) की लहर हृदय में उठती है तो आत्मा मारे खुशी के प्रसन्न हो जाती है। प्रत्येक अच्छे और बुरे काम का असर पहले इस आत्मा पर ही पड़ता है। जब कोई दूसरों को दुःख देने की दुर्भावना करता है तो वह अपनी दुर्भावना से पहले स्वयं दुखी होता है।

दियासलाई जब दूसरों को फूंकने जाती है तो पहले स्वयं फुंक जाती है। दूसरे की झौंपड़ी तक पहुँच सकेगी या नहीं, किन्तु ऐ दियासलाई ! पहले तो तू ही नष्ट हो जाएगी।

तो ऐ मनुष्य ! यदि तू दुनिया में रहता है तो इस तरह रह कि तुझे देख कर लोग खुश हों और उनकी खुशी है तो पहले तू खुश है। तेरे जीवन से दुखियों को राहत मिले और जब तू इस दुनिया में न रहे तो सारी दुनिया तुझे याद करे।

दरवेश-औलिया-फकीर, राजा-महाराजा सब को ही इस दुनिया से एक दिन कूच कर जाना है । दुनिया के इस बगीचे में कोई फूल ऐसा नहीं जो खिल कर मुरझाता न हो । अतएव दुनिया

में तेरा आना तभी सार्थक है जब कि सुगंध लेकर तो आ और दूसरों को सुगंध देकर जा। तू फूल बन कर ही आ और शूल मत बन। इस दुनिया में फूल वालों के लिए फूल भी हैं और शूल वालों के लिए शूल भी मौजूद हैं।

इस दुनिया में सज्जन पुरुष फूल के सदृश हैं और पापी, जुल्मी, बेकसों पर छुरी चलाने वाले, खून बहाने वाले शूल की तरह हैं। याद रखना, जो शूल दूसरे के पाँव में चुभ कर उसे दुःख देना चाहता है, वह पहले अपना ही अस्तित्व नष्ट करता है, अर्थात् पैर में चुभते ही टूट जाता है। कहा भी है—

> दूसरों को दुःख देकर सुख पाते नहीं।
> पांव में चुभते ही कांटा टूट जाता है वहीं।

जो दूसरों को दुःख देते हैं, काँटे बन कर चुभते हैं, दूसरों का छेदन-भेदन करते हैं, वे जीवन में कभी सुख नहीं पाते। जैसे पैर में चुभते ही काँटा टूट जाता है, उसी प्रकार वे भी खत्म हो जाते हैं।

वह व्यक्ति तो उस काँटे को दूसरे काँटे से निकाल कर फेंक देगा और जख्म दो-चार दिन में भर जायेगा किन्तु ऐ दुःख देने वाले काँटे! मगर तुझे जो हानि उठानी पड़ी हैं वह सारी जिंदगी पूरी होने वाली नहीं है। तेरा जो सिर धड़ से अलग हो चुका है, वह अब पुनः मिलने वाला नहीं है।

इसलिए सज्जनो! यदि तुम दुनिया में आए हो तो किसी का भला करो, दुःख दूर करो। इसीलिए कवि ने कहा है कि जब तू इस दुनिया में न रहे तब भी तुझे दुनिया याद करे, ऐसा काम तू कर। लोग कहें—अहा, वह कितना अच्छा आदमी था। दीन-दुखियों का तो माई-बाप ही था।

इस दुनिया से नेकी-बदी ही इन्सान के साथ जाने वाली है। किन्तु जिसकी दृष्टि अच्छी है उसे सारा संसार ही मित्र के समान दिखाई देता है। 'यादृशी दृष्टिस्तादृशी सृष्टिः।' अर्थात् जैसी जिसकी दृष्टि होती है, उसे वैसी ही सृष्टि नज़र आती है। कहा है—

ज़माना हो गया अकबर तेरी सीधी निगाहों में।
अगर तिर्छी नज़र होती तो न जाने क्या होता।

अकबर उर्दू का बड़ा शायर हो गया है। वह कहता है—तेरी सीधी नज़र में ही सारा ज़माना गुज़र गया, किन्तु यदि तिर्छी नज़र हो जाती तो न जाने क्या प्रलय मच जाता। किन्तु आज की दुनिया बड़ी विचित्र है। कैसे ?

जिसके साथ में नाता था उसको तो भुला बैठे।

और गैरों से नाता लगा बैठे।

आज जो लोग गॅठकतरे हैं, धोखा देने वाले हैं, उनसे तो लोग प्रीति करते हैं और जो समय पर पल्ले में माल बाँधने वाले हैं, उनसे प्रेम करना ही छोड़ बैठे हैं।

अरे भले मानुस! तुझे याद है कि तू ने गर्भ काल में परमात्मा से क्या वायदा किया था ? तू ने वायदा किया था कि जब मैं इस काल कोठरी से बाहर निकलूँगा तो जरूर तेरी बंदगी करूँगा और मखलूक की खिदमत करूँगा। किन्तु अरे नुगरे! बाहर आते ही सब भूल गया! तू बचपन में तो खेलकूद में लगा रहा और जवानी में विषयभोगों में बेईमान होकर फँसा रहा और कमाई से ही फुर्सत न पा सका। बुढ़ापा आया तो नाना प्रकार की

व्याधियों में ग्रस्त हो गया। इस प्रकार ईमानदार से बेईमान बन कर इस संसार से कूच कर गया। तू ने इस नाशशील दुनिया के जाल में फँस कर परमात्मा को भुला दिया। जब तू परमात्मा से वायदा करके नट सकता है तो दूसरों के साथ किये हुए वायदे को निभाएगा, यह कैसे विश्वास किया जा सकता है? किन्तु याद रखना—

कहते हैं करते नहीं, मुँह के बड़े लवार।
काला मुँह उनका होयगा, सांई के दरबार।

तुझे जिसको हरदम याद रखना था उसे भुला बैठा और गैरों से मुहब्बत करने लगा। यह तेरी कितनी भारी भूल है? शायर जौक़ कहते है—

ऐ जौक़ दुनिया से रिश्तए उल्फत को तोड़ दे।
जिस सिर का है यह बाल उसी सिर में जोड़ दे।

शायर ने बड़ी ऊँची उड़ान ली है। उसने शायरी में कमाल कर दिया है। शायर ने इस पापभरी दुनिया का नग्न चित्र खींच कर सामने रख दिया है। वह स्वयं अपने से बात कर रहा है और कहता है—*ऐ जौक़! तू इन माता-पिता-स्त्री-पुत्र आदि परीवार के* लिए दूसरों का गला काट कर, खून चूस कर, दगा करके, ४२० करके धन कमाता है, किन्तु इनमें से कोई भी तेरा साथ देने वाले नहीं हैं। उस पापकर्म के फल भोग में हिस्सा बटाने वाले नहीं हैं। तू जिनके लिए दोड़धूप कर रहा है, वे केवल खाने वाले हैं, नफे के जिम्मेवार हैं, टोटे के नहीं। जब तक तू इन्हें ला-ला कर खिलाएगा-पिलाएगा, तब तक ये भाई जी, मामा जी, फूफा जी कहेंगे और जब तुझसे कोई स्वार्थ सिद्ध नहीं होगा तब तुझे उसी

प्रकार हटा देंगे जैसे घी में से मक्खी को निकाल कर फेंक दिया जाता है। अतएव नातेदारी की इस उल्फत को तोड़ दे और यह जिस सिर का बाल है उसके साथ ही जोड़ दे।

आप जानते ही होंगे कि बच्चे को भी बाल कहते हैं और केश को भी बाल ही कहते हैं। इन बालों को मस्तक ने जन्म दिया है तो जब तक ये मस्तक से संबंधित रहते हैं, लोग इन्हें दही या साबुन से धोते हैं और साफ-सुथरा रखते हैं। तेल लगाकर उन्हें मुलायम रखते है और कंघी फेरते हैं।

सज्जनो! पहले तो इन बहिनों को ही कंघी की फिक्र रहती थी, किन्तु आजकल के बाबुओं की जेब में सदैव कंघा तैयार रहता है। मगर ऐसे लोग न हिन्दुस्तान में हैं और न पाकिस्तान में ही हैं, अर्थात् न पुरुषों में और न स्त्रियों में ही हैं। जरा-सा इधर-उधर होते ही उनके बाल बिखर जाते हैं, और उसे ये सहन नहीं कर सकते। अतएव कंघा जेब में ही लिए-लिए घूमना पड़ता है।

मगर इन बालों की सार-सम्भाल और कद्र कब तक है? जब तक ये किसी हजाम की कैंची के शिकार नहीं बने हैं और मस्तक के साथ जुड़े हुए है। जब हजाम उन्हें मस्तक से अलग कर देता है और काट कर फेंक देता है, तो कौन उनकी ओर दृष्टि भी डालना पसन्द करता है?

आज तो हजामों की कमी नहीं है। घर-घर में हजाम हो रहे है। पहले शाप दिया जाता था कि—'झोली लेकर फिरेगा।' परन्तु आज तो हरेक के हाथ में झोली हो गई है।

तो जब तक बाल सिर पर रहते हैं, उनकी सार-सँभाल की जाती है, किन्तु जब सिर पर से अलग हो जाते हैं तो उन्हें गटर में

डाल दिया जाता है। भंगिन भी पहले डलिया-टोकरी में बाल डालती है और फिर उनके ऊपर मैल डालती है।

हाँ, तो ये सिर के बाल हैं—बच्चे हैं। जब तक ये सिर के साथ रहते हैं, इन्हें खूराक मिलती है और जब ये बड़े हो जाते हैं और बड़े हो जाने पर भी तब तक फलते-फूलते हैं जब तक मस्तक पर बने रहते हैं। जब पृथक् हो जाते हैं तो उनका बढ़ना बन्द हो जाता है, विकास रुक जाता है और गटर-की मोरी की शोभा बढ़ाते हैं।

मैं पूछता हूँ आप कौन हैं ?

(एक वृद्ध—मनुष्य !)

मैं भी तुम्हें हाथी-घोड़ा नहीं समझता हूँ। तुम्हारे मनुष्यभावी आँख, कान, नाक आदि हैं, अतएव तुम्हें घबराने की आवश्यकता नहीं है। तो आप बूढ्ढे भी हो गए और आपके सफेद भी आ गए, फिर भी ज्ञानियों की दृष्टि में आप भी बाल अर्थात् बच्चे ही हो।

याद रक्खो, तुम्हारा पिता अमर है। वह न मरा और न मरेगा। जिसका पिता जिन्दा है वह बाल ही है, भले ही उसकी उम्र कितनी ही क्यों न हो ?

आप में से कई कह सकते है—हम तो अपने पिता को कभी का फूंक चुके हैं। किन्तु जो पिता फूँक दिया जाता है वह तो अल्प-कालिक—टैम्परेरी—आरज़ी है। असली पिता जगत्पिता है और वह अमर है। वह न केवल हिन्दुओं और न केवल मुसलमानों का, किन्तु समग्र जगत् का पिता है। उसकी दृष्टि में प्राणि-मात्र समान हैं। वह समदृष्टि है, अतएव उसके सामने सब बच्चे हैं—कीड़ों से लेकर हाथी तक।

इसलिए भद्र पुरुषो ! शायर कहता है कि जब तक बाल सिर पर रहते हैं तब तक उनका संरक्षण होता है और जब मालिक से जुदा हो जाते हैं तो उनकी दुर्दशा ही होती है।

हम सब बाल रूप हैं और परमात्मा उन बालों का पिता रूप है। अतएव हमारी प्रतिष्ठा, आन, शान और सुख इसी में निहित है कि हम जिसके हैं, उसी के बने रहें। किन्तु आज तो मामला ही कुछ और हो गया है। कहा है—लाहौर से मुहब्बत पासोर जाते हैं। लाहौर शहर है और पेशावर भी शहर है। तो मुहब्बत किससे कि लाहौर से और जाते कहाँ हो कि पेशावर ! मतलब यह हुआ कि मुहब्बत तो किसी और से जोड़ते हो और पास किसी दूसरे के जाते हो। इस प्रकार जब ४२० करते हो. तो बात कैसे बन सकती है ?

तुम प्रीति करते हो स्त्री से, पुत्र से, धन से और बंगलों से, मगर जाना चाहते हो भगवान् के पास। यह कैसे सम्भव हो सकता है ? जिससे प्रीति लगा ली जाती है, उसी के पास जाना होता है। दूसरा अपने पास क्यों फटकने देगा ?

तो जिसके पास जाना है, उसी का ध्यान लगाना पड़ेगा। इधर-उधर भटकने से और दूसरों के साथ प्रीति जोड़ने से काम बनने वाला नहीं है।

शायर ज़ौक यही कहता है। उसका कहना है कि जिसके साथ तेरा असली रिश्ता है, उसी से रिश्ता जोड़ और दूसरों से झूठा नाता तोड़ दे।

तू चेतन है अतएव तेरा रिश्ता चेतन के साथ है न कि जड़ के साथ। तू भी चेतन है और परमात्मा भी चेतन है। अन्तर है तो

पक्ष हैं और अधिकांश देश उनमें से किसी एक के पिछलग्गू हैं, उसी प्रकार उस दरबार में भी राजा लोग इन दोनों के पक्ष में हो गए। कोई युधिष्ठिर का तो कोई दुर्योधन का समर्थन करने लगे। किन्तु कृष्ण महाराज बड़े ही चतुर राजनीतिज्ञ थे। उन्होंने सोचा—बातों ही बातों में संघर्ष उग्र रूप धारण कर लेगा। अतएव इसे यहीं समाप्त कर देना चाहिए।

अन्त में श्रीकृष्ण बोले—अच्छा, यह प्रश्न अभी यहीं समाप्त कर दिया जाय। इसका निर्णय समय पर फिर कभी किया जायगा।

सभा विसर्जित हो गई और सब अपने-अपने काम में लग गये। कुछ समय बीता तो लोग उस प्रश्न को ही भूल गये।

जिम्मेदार और सज्जन पुरुष अपनी जिम्मेवारी को नहीं भूलते, मगर दुरंगी नीति वाले कहते हैं—भूल गये! ऐसे लोग भी मतलब की बात नहीं भूलते और कदाचित् कब्र में से भी खोद कर निकाल लेते हैं। मतलब न हो तो कह देते हैं—'महाराज, भूल गया।' भूलेगा क्यों नहीं, वहाँ तेरा पानी जो मरता था।

मगर कृष्ण महाराज नहीं भूले। एक दिन उन्होंने फिर बात छेड़ दी। कहा—सभासदो! कुछ समय पूर्व मैंने आप लोगों से एक प्रश्न किया था। वह सब को याद ही होगा।

यह सुन कर लोग एक दूसरे की बगलें झांकने लगे। कोई नहीं बता सका कि क्या प्रश्न किया था।

जैसा कि अभी कहा जा चुका है, लोग मतलब की बात ही याद रखते हैं। कहा है—

भूल गये राग-रंग, भूल गये छकड़ी।
तीन बात याद रही, लूण तेल लकड़ी।

हाँ, तो सब ने कहा—महाराज हमें तो आपका प्रश्न याद नहीं रहा। कृपा करके पुनः फर्माइए कि आपने क्या प्रश्न किया था ?

कृष्ण जी बोले—सभासदो, आश्चर्य है कि आप लोग इतनी जल्दी प्रश्न को भूल गये। अस्तु मैं उसे दुहरा देता हूँ।

यह कह कर कृष्ण जी ने कहा—मैं ने उस दिन आपसे पूछा था कि संसार में भले आदमी ज्यादा हैं या बुरे आदमी ?

तब सब ने कहा—हाँ महाराज प्रश्न तो आपने यही किया था।

इतने में ही दोनों पहलवान—युधिष्ठिर और दुर्योधन फिर मैदान में उतर आये। युधिष्ठिर बोले—सारा संसार हो भला है महाराज।

दुर्योधन ने फिर वही कहा—इस संसार में तो भेड़िये और मगर-मच्छ ही अधिक भरे पड़े हैं। यहाँ भले आदमी है ही कहाँ ?

तब कृष्ण महाराज ने कहा—आप दोनों प्रमाण सहित उत्तर दें और यहाँ के नागरिकों की एक-एक सूची तैयार कर लावें कि आपकी दृष्टि में कौन भला और कौन बुरा है ?

दोनों अपनी-अपनी डायरी लेकर नामावली तैयार करने के लिए नगर में गये। युधिष्ठिर जिस व्यक्ति के पास जाते हैं, उन्हें सब अच्छे ही अच्छे नज़र आते हैं। किसी में दया का गुण है तो कोई परोपकारी है। किसी में नम्रता है तो किसी में क्षमा गुण की प्रधानता है। कोई परमात्मा का भक्त है तो कोई दीन-दुखियों का सहारा है। काई ज्ञानानन्दी है तो कोई भजनानन्दी है।

इस प्रकार धर्मराज युधिष्ठिर को सब अच्छे ही नज़र आये। वास्तव में उनकी आँखों का कैमरा अच्छी-अच्छी बातों को ही 'केच'

यही कि परमात्मा निर्विकार, निष्कलंक चेतन है और तू विकारग्रस्त है। परमात्मा पर कोई पर्दा नहीं रहा है और तेरी आत्मा पर पर्दा पड़ा हुआ है। कर्मों का वह पर्दा परमात्मा के ध्यान से और उसके वताए हुए सत्पथ पर चलने से हट जाएगा तो तू स्वयं परमात्मा वन जाएगा। फिर तुझ में और उस में कुछ भी अन्तर नहीं रह जाएगा।

कहा है—

वन्दा नहीं तू सचमुच खुदा है,
वस एक नुक्ते से हुआ जुदा है।
वह नुक्ता खुदाई जुदाई का वायस,
गर मिटा दे खुद्राई फिर खुद ही ख़ुदा है।

तुझ में और खुदा में केवल एक नुक्ते का ही फर्क है। यदि उस नुक्ते को ऊपर लगा दे तो तू ही खुदा वन जाए। उर्दू के खे और जीम अक्षर एक से हैं। दोनों में कोई अन्तर नहीं। ऊपर नुक्ता लगाने से खे और नीचे लगाने से जीम वन जाता है। खे अक्षर से खुदा वना है।

तो परिश्रम करके उस खुदा को प्राप्त कर सकते हो। यह अनमोल जीवन वार-वार मिलने वाला नहीं है, अतएव नज़र को तिर्छी मत करो किन्तु सीधी नज़र रख कर चलो। दुनिया की सेवा करके मरोगे तो दुनिया तुम्हें याद करेगी।

इस पृथ्वीतल पर उनका जीवन धन्य है जो दीन-दुखियों का दर्द दिल में छिपाए रखते हैं और दुखियों को देख कर आँखों में आँसू लाते हैं और दिल में ठंडी आहें लेते हैं कि हे भगवन्! इन गरीवों को कैसे राहत मिले? इस प्रकार की करुणा जिनके दिलों में होती है, उनका इस दुनिया में आना भी सार्थक है। अतएव अपनी

दृष्टि हमेशा सीधी रखनी चाहिए, शुद्ध बनाना चाहिए। मगर दृष्टि को शुद्ध रखना भी प्रत्येक के वश की बात नहीं है। बाजार के रंग देखते हो तो विचलित हो जाते हो। किन्तु जैसी दृष्टि होगी वैसा ही संसार नज़र आएगा।

एक समय की बात है। महाराज श्रीकृष्ण का दरबार लगा हुआ था अनेक प्रकार के राजकीय फैसले हो रहे थे। उसी समय कृष्ण महाराज ने लोगों के सामने एक प्रश्न रख दिया। उन्होंने कहा—सभासदो! संसार में भले आदमी अधिक हैं या बुरे आदमी?

उस सभा में दो बड़े प्रतिष्ठित और जबर्दस्त व्यक्ति भी उपस्थित थे। एक ओर युधिष्ठिर थे तो दूसरी ओर दुर्योधन। श्रीकृष्ण का प्रश्न सुन कर युधिष्ठिर ने उत्तर दिया—महाराज, इसका क्या पूछना है? संसार भले आदमियों से व्याप्त है। भले आदमी अधिक न होते तो संसार नरक न बन जाता?

तुरन्त दुर्योधन ने खड़े होकर कहा—महाराज, यह समाधान मुझे सही नहीं मालूम होता। यह संसार तो खोटे आदमियों से भरा पड़ा है। यहाँ सब भेड़िये रहते हैं और भले आदमी क्वचित् कदाचित् ही नज़र आते हैं।

सज्जनो! जो संसार युधिष्ठिर की दृष्टि में सुन्दर स्वर्ग के समान दृष्टिगोचर होता है, वही दुर्योधन को दोज़ख—नरक के समान दिखाई दे रहा है।

दोनों ही पहलवान थे और राजसभा में बैठे हुए व्यक्तियों में जिसकी जैसी दृष्टि थी, वे उस-उस के पक्ष में हो गए। जोरदार संघर्ष उत्पन्न हो गया। जैसे आजकल रशिया और अमेरिका के दो

करता था। बुराई को पकड़ने की शक्ति ही उसमें नहीं थी। यद्यपि गुणियों में अवगुण भी थे किन्तु अवगुण देखने वालों के लिए अवगुण थे। गुणग्राही के लिए गुण ही गुण थे।

आखिर जब उन्हें कोई अवगुणी नजर न आया और फिरते-फिरते हैरान हो गये तो अपना बहीखाता कोरा का कोरा लेकर राजदरबार में आ गये।

उधर दुर्योधन भी नगर में गया तो उसे कोई रिश्वत लेने वाला, कोई चोर बाजारी करने वाला, कोई मुंहजोर, कोई सीना-जोर, कोई चोर, व्यभिचारी, जुआरी, नास्तिक ही नजर आया। उसकी दृष्टि में किसी में कोई गुण ही नहीं था। उसे सब भेड़िया ही भेड़िया दिखाई दिये। अतएव वह भी अपना खाता कोरा का कोरा ही ले कर आ गया।

जब कृष्ण महाराज ने दोनों की डायरियाँ कोरी देखीं तो कहा—तुम यों ही आ गये। अच्छी तरह अन्वेपण नहीं की?

दोनों ने कहा—महाराज, हम घूमे, खूब घूमे और घूमते-घूमते थक गये।

तब दुर्योधन की ओर देख कर कृष्ण जी ने पूछा—तो तुम्हारा बहीखाता कोरा क्यों है? क्या एक भी अच्छा आदमी नज़र नहीं आया?

दुर्योधन—महाराज, जब सारा संसार ही पापी है तब अच्छा आदमी कैसे मिल सकता है?

युधिष्ठिर से पूछा तो उन्होंने भी यही उत्तर दिया। वह बोले—संसार में कोई बुरा आदमी होता तो ही उसका नाम लिख कर ला सकता था। मगर ऐसा कोई मिला ही नहीं।

दोनों की बात सुन कर कृष्ण महाराज ने बड़ा ही सुन्दर निर्णय दिया। वह बोले तुम दोनों के परीक्षण से सिद्ध हुआ है कि यह संसार एकान्ततः अच्छा भी नहीं है और बुरा भी नहीं है। जो अधर्मी और नरकगामी हैं, उनके लिए सभी मनुष्य यमदूतों के समान हैं और जो धर्मी हैं, स्वर्गगामी हैं और मोक्ष के अधिकारी हैं, उन्हें सब अच्छे ही अच्छे नज़र आते हैं।

दो मित्र बगीचे में गये। उनमें से एक की दृष्टि विकसित और सुगंधित पुष्पों की तरफ गई और वह उनकी सुगन्ध ग्रहण करके दिमाग को ताज़ा करने लगा। दूसरे की नज़र गुलाब के काँटों पर पड़ी। इस प्रकार फूल वाले को फूल और शूल वाले को शूल ही प्राप्त हो गये।

किसी चेले ने गुरु से पूछा—यह संसार कैसा है? तब गुरु ने कहा—शिष्य! अपने दिल से ही पूछ ले कि तू कैसा है? तू जैसा होगा, तेरी दृष्टि जैसी होगी, वैसा ही तुझे संसार दिखाई देगा। अगर तेरे दिल का शीशा स्वच्छ है तो सारा संसार स्वच्छ, गुणमय और भला दीखेगा और यदि धुंधला है तो मलीन, पापी और भेड़िये के समान दीख पड़ेगा। अतएव दुर्लभ मानवभव पाकर अपने हृदय को शुद्ध बनाओ। संसार के पदार्थ साथ देने वाले नहीं। धर्म ही साथ जाने वाला है। ऐसा समझ कर जो इस जीवन में परोपकार करते हैं, धर्म करते हैं, वे संसार-समुद्र से पार हो जाते हैं।

ब्यावर
१५—१०—५६

———

राग-त्याग

उपस्थित सज्जनो !

शिष्य ने गुरु से प्रश्न किया—पूज्य गुरुदेव ! जो तीन दोष अत्यन्त भयंकर है, आत्मिक गुणों का विनाश करने वाले हैं, उन्हें पनपने नहीं देते, विकसित नहीं होने देते, जिनकी विद्यमानता में अनेक प्रकार के तप, जप, संयम, अनुष्ठान और क्रियाएँ करने पर भी आत्मा अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर पाता और जो आत्मिक-कल्याण के मार्ग में चट्टान की तरह अड़ कर बाधक बने हुए हैं, उन तीन दोषों को जो निकाल देता है, उसे क्या लाभ होता है ? शास्त्रीय भाषा में प्रश्न यह है—

'पिज्जदोसमिच्छादंसणविजएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?'

जो जीव राग, द्वेष और मिथ्यादर्शन को जीत लेता है, उन पर विजय प्राप्त कर लेता है, उसे क्या लाभ होता है ?

सज्जनो ! इन दोषों को दूर कर देना कोई हँसी खेल नहीं है। यद्यपि प्रश्न थोड़े शब्दों में किया गया है और उत्तर भी थोड़े शब्दों में ही दे दिया गया है, तथापि उन शब्दों में महान् अर्थ निहित है।

इन तीन दोषों का सम्बन्ध आत्मा के साथ अनन्त-अनन्त काल से चला आ रहा है। इन्हीं दोषों के कारण जीव कर्मों का बंधक बनता है। इनकी बदौलत ही संसारी जीव विकास की जगह ह्रास और उत्थान की जगह पतन की प्राप्ति कर रहा है। इन तीन दोषों

में पहले राग की गिनती की गई है, अतएव सर्वप्रथम इसी के सम्बन्ध में कुछ विवेचन करना उचित होगा।

राग आत्मा का अत्यन्त प्रवल और भयानक शत्रु है। द्वेष की अपेक्षा भी राग के कारण कर्मों का अधिक वंधन होता है। राग को जीतना वड़ी टेढ़ी खीर है। राग के प्रभाव से मनुष्य वेमान हो जाता है। जिसका अन्त:करण राग से अभिभूत है, उसकी दृष्टि सम नहीं रहती, विषम हो जाती है। जिसकी आत्मा में जितना अधिक राग होगा, उसकी दृष्टि में विकार भी उतना ही अधिक होगा। रागी की दृष्टि में कोई सिद्धान्त नहीं होता। शास्त्रकार कहते हैं—जिस वस्तु से उसका कार्य सिद्ध होता है, मतलव निकलता है और स्वार्थ पूरा होता है, वह वस्तु भले खराव से खराव हो, किन्तु रागभाव के कारण उसे वह दृढ़ता पूर्वक अच्छी ही मानता है।

मदिरापान करने वाले को देख कर दुनिया जानती है कि मदिरा वहुत वुरी चीज़ है। मदिरा के दोप प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। शराव के नशे में शरावी नालियों में पड़ता हैं। उसके पैरों में ताकत नहीं रहती। वह गालियाँ वकता है। पत्नी को माँ और माँ को पत्नी कहता है और नशे में अपने आप को वेताज का वादशाह मानता है। फिर भी दारू पीने वाले पर दारू का प्रभाव इतना अधिक हो गया है कि उसके लिए तो वही स्वर्गीय सुख देने वाली है, अगर उसकी जेब में दाम हैं और वह हलवाई की दुकान के पास से भी गुज़र रहा है, तो वढ़िया, पौष्टिक और दिल-दिमाग को तरावट देने वाली मिठाइयों को नहीं खायगा, वह सीधा दारू की दुकान पर जाएगा और दारू पीकर ही अपनी जेव खाली करेगा। इसका कारण यही है कि उसकी भावना मदिरा के प्रति रागमय वन

में मांस के प्रति अनुराग उत्पन्न हो गया है और कसाइयों को पैसे से प्रीति है ! इसी कारण वे क्रूर लोग दूसरे के प्राणों को प्राण ही नहीं समझते। शास्त्रकार फर्माते हैं कि मनुष्य छः कारणों से जीवों की हिंसा करता है :—

'इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण-माणण-पूयणाए,
जाइ-मरणमोयणाए, दुक्खपडिग्घायहेडं ।'

—आचारांग, अ० १, उ० १.

इस नाशवान जीवन के लिए रागी पुरुष दूसरों की ज़िदगी से होली खेलते हैं—उसे नष्ट कर देते हैं। कई सोचते हैं—लोग मेरी बहादुरी की प्रशंसा करेंगे—वन्दना करेंगे और कहेंगे कि—अहा ! यह कितना बहादुर है जो एक ही तीर से हिरण या खरगोश को बींध सकता है ! एक ही झटके से पाड़े का सिर धड़ से जुदा कर सकता है।

कहते हैं—'चिड़ियों की जान जाती है और गैलारों (राहगीरों) की हँसी होती है।' किन्तु याद रखना चाहिए, इस हँसी की कीमत चुकाना बहुत भारी पड़ेगा। रो-रो कर बदला चुकाना होगा और वह अत्यन्त भयानक होगा। बदले के वार कभी खाली जाने वाले नहीं। शास्त्र स्पष्ट घोषणा करते हैं :—

कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि ।

अर्थात् जो कार्य किये हैं उनका फल दो दिन आगे या पीछे भोगना ही पड़ेगा। उनका फल भोगे बिना छुटकारा मिलने वाला नहीं है।

भगवान् महावीर फर्माते हैं—पाप छिपे रहने वाले नहीं हैं। लोग समझते हैं—हम मिट्टी डाल देंगे, छिपा देंगे, किन्तु उन्हें छिपाने

की लाख चेष्टाएँ भी सफल नहीं हो सकती। किये पाप सिर पर चढ़ कर बोलते हैं।

इसी प्रकार जुआरी समझता है कि मैं सरकार के कानून के विरुद्ध जुआ खेलता हूँ। सरकार मुझे पकड़ लेगी और सज़ा देगी। इसी कारण वह एकान्त में जाकर छिप कर जुआ खेलता है। मगर उसे याद रखना चाहिए—कदाचित् सरकार न भी पकड़ सकी तो भी तू अपने काले कारनामों से अपना घर बरबाद कर देगा।

इन्सान की अन्तरात्मा अच्छाई-बुराई को भली-भाँति समझती है। प्रत्येक आत्मा में इतना विवेक विद्यमान रहता ही है। किन्तु जब कोई भी व्यसन उस पर बुरी तरह छा जाता है और उसकी अन्तरात्मा उसमें अनुरक्त हो जाती है तो उसे छोड़ नहीं सकता। नुकसान उठा कर भी वह उसका सेवन करता है।

कितने ही ऋषि-मुनि और ज्ञानी समझते हैं कि अमुक आदत अच्छी नहीं है, फिर भी तीव्र रागभाव के कारण वे उससे अपना पिण्ड नहीं छुड़ा पाते। मरते दम तक भी उस व्यसन को नहीं छोड़ते। हाँ, यह बात अवश्य है कि जब उन दुर्व्यसनों की तरफ से उनके हृदय में विरक्ति उत्पन्न होगी और आत्मा का उज्ज्वल भाव प्रबल होकर जागृत होगा तो किसी को दो शब्द कहने की भी आवश्यकता न होगी और वे स्वयं ही उससे घृणा करके छोड़ देंगे। उन की उच्च शक्ति ही गुरु बन कर उनका पथ-प्रदर्शन करेगी और उन्हें बल प्रदान करेगी। किन्तु जब तक रागभाव प्रबल बना हुआ है और उस शक्ति पर कब्जा किये हैं, तब तक मनुष्य इच्छा करने पर भी असमर्थ ही बना रहेगा।

गई है। अतएव वह बुरी और हानिकारक वस्तु को भी अच्छी समझता है ।

इसी प्रकार चोर जानता है कि चोरी करनी बुरी है, क्योंकि चोर पकड़े जाते हैं, डंडे खाते हैं, कारागार में सड़ते हैं और दुनिया में वदनाम होते हैं। लोग उनका विश्वास नहीं करते, वल्कि घृणा करते हैं । परलोक में भी उसकी गति विगड़ती है। समाज में अव्यवस्था और अनीति की वृद्धि होती है। इतनी सव बुराइयाँ होने पर भी जिसे चोरी के प्रति अनुराग उत्पन्न हो गया है, वह तो यही सोचता है कि सीधा माल हाथ लगता है तो कौन परिश्रम करे ? कौन पसीना वहाए।

चोर को चोरी के माल से भले ही खान पान आदि आंशिक सुख मिलता हो तो भी उसे जगलों में मारा-मारा फिरना पड़ता है। कहीं विश्राम भी ले रहे होते हैं तो पत्तों की जरा-सी खड़खड़ाहट होते ही उनका कलेजा कांपने लगता है कि कहीं पुलिस या फौज तो नहीं आ गई है ! इस प्रकार चोरों का खाना-पीना और नींद लेना भी हराम हो जाता है।

सज्जनो ! निषिद्ध काम जो करते हैं, उनकी आत्मा व्याकुल हो जाती है। दुर्व्यसनी दुर्व्यसन के वशीभूत होकर दुष्कृत्य का सेवन करता है और अन्तस में उसकी बुराई को समझता है, किन्तु रागभाव की तीव्रता के कारण वह वच नहीं पाता और उसका आचरण करता है।

पंजाव के एक संगरूर शहर के वाज़ार में ही पुलिस का थाना है और उसके पास ही उपाश्रय (स्थानक) है । जव पुलिस वाले यमदूतों की तरह चोरों को पकड़ कर लाते हैं, चोरी

कबूल कराने के लिए बेरहमी से पीटते हैं और चोर चिल्लाते हैं तो सुनने वालों का दिल दहल जाता है। मैं जब वहाँ गया तो जिन मुनियों ने वहाँ चातुर्मास किया था, वे कहने लगे—क्या पूछो महाराज ! चोरों की चिल्लाहट से नीद लेना भी हराम हो जाता है।

कारावास की कठोर यातनाएँ भोगने पर भी चोर जब छूटता है, तब भी चोरी करने से बाज़ नहीं आता। क्योंकि उससे उसका राग हो गया है।

इसी प्रकार मांस खाने वालों को और कसाइयों को अच्छी तरह मालूम है कि सूई चुभने पर या काँटा लगने पर कितना कष्ट होता है। फिर भी वे दूसरों के गले पर छूरी चलाते है। उन प्राणियो को कितनी व्यथा होती होगी ?

हम प्रात:काल यहाँ शौचार्थ जंगल में गये तो रास्ते में एक सिख काटने के लिए बकरे ले जा रहा था। उन बकरों का कितना दर्दनाक दृश्य होता है ! बेचारे बें-बें करते है,इधर-उधर भाग जाने के लिए कूदते -फांदते है, मगर जब उनके गलों पर छुरी फेर दी जाती है तो किस बुरी तरह तड़प-तडप कर प्राण देते है ! किस तरह उनके सामने मौत का भयावना चित्र आने लगता है ! फिर भी कसाई उन्हें गाजर-मूली की तरह काट डालते है और फिर खाने वाले उन्हें अपने पेट रूपी कब्रिस्तान में डाल लेते हैं !

इतना करुणाजनक दृश्य और दिल दहलाने वाला नज़ारा उन कसाइयों और मांसभक्षकों के सामने होने पर भी उनका दिल क्यों नहीं पसीजता ? उनका हृदय पत्थर की तरह कठोर कैसे बन गया ? इसका एक मात्र कारण यही है कि मांसभक्षियों के चित्त

इसी प्रकार परस्त्रीगामी समझता है कि अगर कोई मेरी वहिन-वेटी को वुरी निगाह से देखता है, छेड़ता है और स्त्री धर्म पर आक्रमण करता है तो मैं उसे वर्दाश्त नहीं कर सकता; इसी प्रकार दूसरे लोग भी वर्दाश्त नहीं कर सकते; किन्तु इतना समझ कर भी वह ढीठ तव नहीं समझ पाता जव स्वय दूसरे की वहू-वेटी पर वुरी नज़र डालता है और उसके धर्म को लूटने का प्रयत्न करता है! उस समय उसका विवेक किनारा काट जाता है, सो जाता है और उसकी सद्बुद्धि नष्ट हो जाती है। तव वह नहीं सोचता कि मैं दूसरों की वहिन-वेटी के साथ दुर्व्यवहार करूँगा, उनका अपमान करूँगा तो मेरी ही तरह उन्हें भी दुःख होगा और वे मेरा भी प्रतिकार करेंगे।

शास्त्रों ने तो थोड़े में ही वड़ी वात कह दी है कि—

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।

जो व्यवहार तू अपने लिए पसन्द नहीं करता, वह तू दूसरों के प्रति मत कर। जो वात तुझे अप्रिय है वह दूसरों को भी प्रिय नहीं हो सकती। अतएव दूसरों के साथ व्यवहार करते समय तू अपने आप को ही कसौटी वना ले। तव और कोई विचार करने की आवश्यकता ही नहीं रह जाएगी।

अगर दूसरे तेरे साथ ठगी, चोरी, धोखेवाजी आदि करते हैं तो क्या तुझे उनका व्यवहार पसन्द आता है? नहीं, तो जव तू उनके प्रति ऐसा व्यवहार करेगा तो उन्हें कैसे अच्छा लग सकता है?

अभिप्राय यह है कि रागभाव जीवों को चक्कर में डाल रहा है। यह राग ही है जिसने मनुष्य की बुद्धि को मलीन वना दिया

है और जो घृणित से घृणित कृत्य को भी करवा डालता है। इष्ट वस्तु के मिल जाने पर मनुष्य खुश हो जाता है और अनिष्ट वस्तु से नाराज हो जाता है। मगर बहुत बार वस्तु की बुराई और भलाई मनुष्य की इच्छा पर निर्भर करती है। रागभाव के कारण बुरी चीज़ भी भली मालूम होती है और अच्छी चीज़ भी तीन कौड़ी की नज़र आती है। रागभाव की तीव्रता होती है तो बुरे से बुरा कार्य करने पर भी मनुष्य उतारू हो जाता है फिर चाहे उसका सिर ही क्यों न कट जाए।

शास्त्रकार कहते हैं कि मनुष्य राग के वशीभूत हो कर दुर्व्यसनों में गृद्ध होता है। वह समझता है कि उसे उनमें फँसने के लिए ही मानवजीवन मिला है। वह भूल जाता है कि जीवन की वास्तविक कृतार्थता विकारों के विजय में है।

रागभाव मनुष्य को अन्धा बना देता है। कभी-कभी वह इतना कामान्ध हो जाता है कि उसके दुष्परिणामों को देखते हुए भी दूसरे की बहू-बेटियों पर पतंगे की तरह कूद-कूद कर पड़ता है। यह विडम्बना अनादि काल से जीव के साथ चली आ रही है।

जब मनुष्य पहले पहल किसी बुरी आदत का शिकार होता है तो कहता है—मैं तो यों ही कहता हूँ। मगर यों ही करते-करते वह उसका व्यसनी हो जाता है और जीवन में वह व्यसन इतना गहरा पैठ जाता है कि छुटकारा पाना कठिन हो जाता है। प्रत्येक व्यसन इसी प्रकार आरम्भ होता है।

बाप अपने बेटे को हुक्का भरने के लिए कहता है तो वह भर कर उसे मुँह से लगाता है और पीने का अभ्यास करता है। पहले

उसे उसका स्वाद अच्छा नहीं लगता, किन्तु ऐसा करते-करते आदी हो जाता है और फिर पिता से छिप-छिप कर बीड़ी और सिगरेट पीने लगता है। इस प्रकार दुर्व्यसनों का लग जाना तो आसान है पर छूटना बहुत कठिन होता है।

दुर्व्यसन इस लोक में तथा परलोक में भी अत्यन्त दुखदायी हैं। दुनिया के लोगो जब अन्न-जल का व्यसन ही सहज में पूरा नहीं होता तो दुर्व्यसनों के शिकार बन कर क्या करोगे ? क्या लाभ उठाओगे? दुर्व्यसनों के चक्कर में पड़ कर बड़े बड़े राजा, महाराजा, अमीर, उमराव अपना राज्य और अपनी ठकुराई से हाथ धो बैठे। आज भी बड़े-बड़े अमीर दुर्व्यसनों के कारण दीन दशा को प्राप्त हुए देखे जा सकते हैं। उन्हें माँगने पर भी कोई चीज़ नहीं मिलती है, क्योंकि वे समझते हैं कि यह तो दुर्व्यसनी है और इसे दे देंगे तो क्या ले लेंगे ?

तो ये दुर्व्यसन मनुष्य के जीवन को अभिशाप रूप बना देते हैं और दुर्व्यसनी चाह कर भी उनसे छुटकारा नहीं पा सकता। हाँ, पुण्य का उदय हो और कोई अच्छा संयोग मिल जाए तो भले ही छुटकारा मिल जाए, अन्यथा छुटकारा पाना कठिन है।

एक राजा के एक ही लड़का था, अतः उस पर राजा का प्रगाढ़ प्रेम था। बड़े प्यार से वह उसे रखता था। गलती हो जाने पर भी राजा उसे कुछ नहीं कहता था। किन्तु जो पुत्र लाड़ले होते हैं, उनमें प्रायः कुसंगति के कारण कई दुर्व्यसन प्रवेश कर जाते हैं। लाड़ला होने के कारण राजकुमार की भी यही दशा हुई। अपने मित्रों की बुरी सोहबत में पड़ कर वह जुआ खेलने लगा। यही नहीं, शराब पीना, मांस खाना, अफीम खाना, गाँजा-चरस पीना, वेश्या-

गमन करना तथा शिकार खेलना भी सीख गया। अभिप्राय यह कि वह सातों दुर्व्यसनों का शिकार हो गया। वह लाड़ ही लाड़ में बिगड़ गया।

एक बार किसी हितैषी ने राजा को कुमार के बिगड़ने की सूचना भी दी, मगर प्यार की अधिकता के कारण उसने ध्यान नहीं दिया। इसलिए राजकुमार को पक्का दुर्व्यसनी होने के लिए प्रोत्साहन मिलता गया। नीतिकार कहते हैं—

लालने बहवो दोषास्ताडने बहवो गुणाः।
तस्मात्पुत्रश्च शिष्यश्च, ताडयेन्न तु लालयेत्॥

धर्मशास्त्र—धर्मनीति हमें आध्यात्मिक शिक्षा देती है, किन्तु लौकिक नीति भी हमारे व्यावहारिक जीवन को सुन्दर बनाने का मार्ग प्रदर्शित करती है। अगर मनुष्य लौकिक नीति को भी अपना लें और उसके अनुकूल जीवन व्यवहार करें तो भी जीवन बहुत कुछ सुधर सकता है। मगर नीतिशास्त्र का सीखना और तदनुसार चलना भी कठिन हैं।

जैसे मकान बनाने के लिए बड़ी-बड़ी ईंटों की और छोटी-छोटी ईंटों की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार इस जीवन का निर्माण करने के लिए जहाँ बड़े से बड़े महाव्रतों की आवश्यकता है, उग्र तपश्चरण और कठिन नियमों की आवश्यकता है, वहाँ छोटी-छोटी विवेक रूप बातों की—व्रतों की,भी आवश्यकता होती है। जीवन को ठीक रूप से संचालित करने के लिए महाव्रतों का पालन भी करना होगा और उनके सहायक छोटे-छोटे नियमों की ओर भी पूरा-पूरा ध्यान रखना होगा। अगर महाव्रतों की सहायक छोटी-छोटी बातों में शिथिलता आ जायगी तो महाव्रतों में भी शिथिलता आए बिना

नहीं रहेगी। अतएव साधु को अपनी साधना को बड़ी सावधानी से निभाना चाहिए और छोटी बातों पर भी पर्याप्त ध्यान रखना चाहिए।

शास्त्रों में दो मार्ग बतलाये गये हैं—निश्चयमार्ग और व्यवहारमार्ग। निश्चय साध्य और व्यवहार उसका साधन है। साध्यदृष्टि से निश्चयमार्ग ही हितावह है। मगर यह निश्चय मार्ग शाश्वतवादियों का मार्ग है। शाश्वतवादी का अर्थ है शाश्वत केवल-ज्ञान प्राप्त कर चुकने वाला। इसीलिए शाश्वत मार्ग को प्रधानता दी गई है। केवली अपने जीवन में मुख्य रूप से निश्चय मार्ग को लेकर चलते हैं। वे आगम व्यवहारी हैं जो भूत भविष्य की बातों को जान रहे हैं। वे इन अक्षरों—शास्त्रों से बँधे हुए नहीं हैं। वे स्वयं आगम हैं, अतएव निश्चय को लेकर चलते हैं।

और ये आगम आये कहाँ से हैं? केवलियों ब्रह्मज्ञानियों ने जो वाणी श्रीमुख से फर्माई, उसी ने आगम का रूप धारण कर लिया। वे शक्ति के केन्द्र थे और उनकी थोड़ी-सी ज्ञान शक्ति आगमों के रूप में आ गई है। शास्त्र में कहा है कि ब्रह्मज्ञानी—सर्वज्ञ भगवान् लोका-लोक के समस्त भावों को देखते हैं, जानते हैं। उनसे कोई भी वस्तु या चेष्टा छिपी नहीं है। जिस देश, काल या भाव में और द्रव्य-क्षेत्र काल और भाव को लेकर जो भी घटनाएँ घट चुकी हैं, घट रही हैं या घटेंगी, वे उन सबको हस्तरेखा की तरह देख रहे हैं। सिद्धलोक में उन्हें और क्या आनन्द है? वहाँ उनको खाना-पीना तो है नहीं, केवल ज्ञान का ही आनन्द है। यहाँ तुम सिनेमा देख कर आनन्दित हो जाते हो किन्तु उनके आनन्द का तो कहना ही क्या है! वे विश्व के समग्र भावों को अपने ज्ञान में देख रहे हैं। उनका कमरा कभी टूटने वाला नहीं है। यहाँ तो प्रतिक्षण पदार्थों में

रद्दोबदल हो रहा है और उथलपुथल मच रही है। इसीलिए पदार्थों का अस्तित्व भी है। यदि कोई चीज़ बने नहीं और बिगड़े नहीं तो संसार रह ही नहीं सकता।

जो बनता है वह बिगड़ता भी है और बनने वाले पदार्थ की—पुद्गल की असंख्यात काल से अधिक स्थिति नहीं है। छहों द्रव्यों में निरन्तर उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य हो रहा है। जो पुराना गेहूँ था वह जमीन में डालने पर नष्ट हो रहा है और कुछ समय बाद वही नया रूप धारण कर रहा है। यह क्रम सतत अविश्रान्त गति से चल रहा है और तब तक चलता ही रहेगा जब तक उसमें उत्पन्न होने की शक्ति अर्थात् योनि रहेगी। जो उत्पन्न होने में सहयोग दे उसी को योनि कहते हैं।

योनि तीन प्रकार की है—सचित्त, अचित्त और मिश्र। जो पुद्गल सजीव है, उसमें भी जीवों की उत्पत्ति होती है और जो अचित्त है, वे भी योनि का रूप धारण करते हैं, जैसे काठ में, गोबर में, विष्ठा में कीड़े उत्पन्न हो जाते हैं।

कहा जा सकता है कि काष्ठ, गोबर आदि जड़ पदार्थ हैं तो उनमें जीवों की उत्पत्ति कैसे हो गई? किन्तु जड़ होने पर भी वे जीवोत्पत्ति में सहायक होते हैं। कुछ पुद्गल सचित्त और कुछ अचित्त हों तो वह योनि मिश्र कहलाती है। ऐसे जीवाजीव रूप पुद्गलों में भी जीव उत्पन्न हो जाते हैं। श्रीमत् प्रज्ञापनासूत्र में योनियों के विषय में विस्तृत वर्णन दिया गया है।

हाँ, तो मैं कह रहा था कि जो उत्पन्न होता है, उसका विनाश भी होता है। जो पर्याय नष्ट होते हैं, "वे नवीन रूप में उत्पन्न भी होते हैं। नूतन उत्पाद ही पूर्व पर्याय का विनाश और

पूर्व पर्याय का विनाश ही उत्तर पर्याय का उत्पाद है। इस उत्पाद विनाश की सदैव चालू रहने वाली प्रक्रिया में वस्तु का द्रव्य अंश ध्रुव भी रहता है। इसीलिए सत् का लक्षण यही माना गया है कि जिसमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य हो वही सत् या द्रव्य कहलाता है।

समुद्र में जो लहरें तरंगित हुई हैं वे तो उत्पन्न हो चुकी और जो उत्पन्न हुई वे शान्त हो गई। जो शान्त हो गई थीं वे फिर लहरों का नया रूप धारण कर लेती हैं। उत्पन्न होने का निमित्त मिल जाता है तो उत्पन्न हो जाती हैं और उत्पन्न होकर मिट भी जाती हैं। फिर भी समुद्र तो ज्यों का त्यों बना रहता है। यही ध्रुव अवस्था है। जब लहरें उत्पन्न हुई थीं, तब भी समुद्र वैसा ही था और जब मिट गई तब भी वैसा ही है।

पानी को जब पवन का वेग मिल जाता है तो लहरें उत्पन्न होती हैं और पानी को उछालती हैं। एक लहर हजारों मील तक भी जा सकती हैं और किनारे पर जा कर खत्म हो जाती है। यही कारण है कि समुद्र चढ़ता है और उतरता है।

तो जैसे-जैसे निमित्त मिलते हैं, वैसी ही वैसी वस्तुएँ उत्पन्न हो जाती हैं। सभी द्रव्यों में उत्पाद, विनाश और ध्रौव्य निरन्तर होता रहता है। उत्पाद और विनाश का क्रम चलता रहने पर भी द्रव्यों के मूल स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं होता, सिर्फ पर्यायों में परिवर्तन होता रहता है। इस प्रकार सारा संसार परिवर्तनशील है। कोई भी पदार्थ सदा एक रूप रहने वाला नहीं है।

यह जीव अपने स्वाभाविक रूप में न कामी है, न क्रोधी है, न लोभी है, न मायावी है, न रागी है, न द्वेषी है और न विषय-

विकारी है। फिर भी हम जीव को इन दोषों से दूषित देख रहे हैं सो यह पर परिणतियाँ हैं। यह जीव की निज की परिणतियाँ नहीं हैं। जब हम इसे क्रुद्धावस्था में ताण्डवनृत्य करते देखते हैं तो यह पर-परिणति का ही दोप है। मनुष्य दारू पी कर अंटसंट बोलता है, कपड़े उतार कर फेंकता है, किन्तु यह उसका स्वभाव नहीं है, वरन् दारू का प्रभाव है। जब दारू का नशा उतर जाता है तो वह अपने रूप में—पूर्व स्थिति में—आ जाता है।

इसी प्रकार इस आत्मा ने भी मोह रूपी मदिरा का पान कर रक्खा है। इसी कारण इस की चेष्टाएँ विपरीत हो रही हैं।

तो मैं कह रहा था कि मार्ग दो हैं और केवली उनमें से निश्चय को लेकर चलते हैं—उच्च कोटि के ध्येय को लेकर प्रवृत्ति करते हैं। अतएव उनके लिए निश्चय की प्रधानता और व्यवहार की गौणता है। इसका अभिप्राय यह नहीं कि वे व्यवहार का परित्याग कर देते हैं। कहा भी है—

"यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं, न हि करणीयं नाचरणीयम्।"

अर्थात् जो कार्य शुद्ध पवित्र होने पर भी लोकविरुद्ध हो उसका आचरण नहीं करना चाहिए। जिस कार्य को करने से लोग आवाज कसें और कहने-सुनने का अवसर आवे ऐसे लोकविरुद्ध कार्य करने योग्य नहीं हैं।

सज्जनो ! यह संसार कोयलों की कोठरी है। यह कंटकाकीर्ण मार्ग है। यहाँ सँभल कर चलने की आवश्यकता है। असावधानी से पैर रक्खा तो काँटे चुभ जाने का डर है। कपड़े और मुँह काले हो सकते हैं।

तो केवलियों के लिए यद्यपि निश्चय की मुख्यता है तथापि वे व्यवहार का त्याग नहीं करते, उसकी उपेक्षा भी नहीं करते वल्कि उसका भी ध्यान रखते हैं। और इसीलिए ध्यान रखते हैं कि आगे आने वाली पीढ़ी उनका गलत अनुकरण न करने लगें। क्योंकि—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।

अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष—वड़े आदमी जो करते है, साधारण लोग उनकी देखा-देखी करते हैं।

किन्तु हमारा मार्ग दूसरा है। हमारे लिए व्यवहार की मुख्यता और निश्चय की गौणता है। निश्चय हमारे जीवन में थोड़ा काम आता है किन्तु व्यवहार का हमारे जीवन से विशेष सम्वन्ध है। हम व्यवहार-मार्ग के पथिक हैं। अतएव हमें ठीक रूप से व्यव-हार का पालन करके निश्चय की ओर अग्रसर होना चाहिए।

सज्जनो! ठीक मार्ग पर होशियारी से चलने पर भी अगर कोई छींटाकशी करता है, दोषारोपण करता है, तो उसकी इच्छा! हम दुनिया के मुँह पर ताला नहीं लगा सकते। हाँ, हमें काँटों से वच कर ही चलना चाहिए और अपने अन्तःकरण के प्रति प्रामाणिक रहना चाहिए।

तो मैं कह रहा था कि पाँच महाव्रत हमारी आत्मा का कल्याण करने वाले हैं और पूर्णरूपेण समाचरणीय है। किन्तु उन महाव्रतों की रक्षा के लिए छोटी-छोटी वातों का भी ख्याल रखना चाहिए। उठना, वैठना, खाना, पीना, वोलना, चलना, परठना आदि २ क्रियाएँ भी महाव्रतों से सम्बन्ध रखती हैं। शिष्य ने भगवान् से प्रश्न किया है—

कहं चरे कहं चिट्ठे, कहंमासे कहं सए ?
कहं भुंजंतो भासंतो, पावकम्मं न बंधई ?

—दशवैकालिक, अ. ४ गा. ७.

हमारे जीवन के लिए जो क्रियाएँ अनिवार्य हैं और जिनका जीवन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है और जो करने योग्य हैं, वे क्रियाएँ तो करनी ही होती हैं, मगर करने के तरीके अलग-अलग होते हैं। भले ही वस्त्र बहुमूल्य हो किन्तु सीने वाला दर्जी यदि कुशल नहीं है तो उसे बिगाड़ देगा। घी, आटा, दाल, चावल आदि सामग्री उत्तम होने पर भी रसोई बनाने वाली धर्मपत्नी जी यदि होशियार नहीं हैं तो रसोई रसायन के बदले फैंकने के योग्य हो जाती है। उसे कोई पसन्द नहीं करेगा और यदि बनाने वाला होशियार है तथा दर्जी निष्णात है तो भोजन और वस्त्र सुन्दर तैयार हो जाता है। इसी प्रकार हमारे जीवन में भी काम करने के लिए बुद्धिमत्ता की आवश्यकता है।

तो क्या साधु पत्थर की तरह एक ही स्थान पर जमा रहे ? नहीं, नहीं। साधु को आना-जाना भी होगा और खाना-पीना भी होगा। समस्त शारीरिक क्रियाएँ, जो उपयोगी हैं, करनी होंगी। परन्तु उनको करने का एक ढंग होना चाहिए ? क्रियाएँ इस तरीके से की जाएँ जिससे पाप कर्मों का बन्ध न हो। यही बात पूर्वोक्त प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कही है। भगवान् फर्माते हैं—हेसाधो !

जयं चरे जयं चिट्ठे, जयमासे जयं सए।
जयं भुंजंतो भासंतो, पावकम्मं न बंधई ॥

अर्थात्—यत्नपूर्वक—विवेक के साथ चलो, बैठो, उठो, सोओ, बोलो और परठो। प्रत्येक क्रिया विवेक के प्रकाश में करो। इस

प्रकार आचरण करने से पापकर्मों का बंध नहीं होगा।

शास्त्र में कहा है कि साधु गोचरी के लिए जावे तो कवाड़ आदि को पकड़ कर खड़ा न होवें और न ही स्नानगृह और शौचालय की ओर नज़र न डाले।

सज्जनो ! प्राथमिक स्थिति में बच्चे को टट्टी-पेशाब करने की भी तमीज नहीं होती, किन्तु माता-पिता उसे सिखाते है और सीखने के बाद वह होशियार हो जाता है। इसी प्रकार महापुरुष हमारे माँ-बाप थे और हम बच्चों की तरह भूल जाने वाले हैं। अतएव उन्होंने कहा—खड़े रहना हो तो इस तरह खड़े रहो और बोलो तो इस तरह बोलो। सोना हो तो भी तरीके से सोओ। इस प्रकार सोओ कि करवट बदलने का भी भान रहे और पहले पूंज कर फिर करवट बदलो।

सज्जनो ! सत्य तो सत्य ही रहेगा। अगर हम प्रमाद के कारण पूर्णरूपेण पालन न कर सकते हों तो यह हमारी कमजोरी है और वह कमजोरी यदि नज़र के सामने रक्खी जाए तो एक दिन दूर हो जाएगी। यदि कमजोरी करके सिरजोरी दिखाई तो वह कमजोरी जीवन में सदा के लिए व्याप्त ही रह जाएगी।

साधु के लिए भोजन करने की भी मर्यादा बतलाई गई है। ऊँट की तरह गर्दन ऊँची किए हुए भोजन नहीं करना चाहिए, बल्कि देख-देख कर एकान्त में शान्ति के साथ अनासक्त भाव से यत्न पूर्वक करना चाहिए।

यद्यपि ये खाने-पीने, उठने-बैठने आदि की बातें छोटी-छोटी हैं और व्यावहारिक है तथापि संयम की द्योतक हैं। इनकी ओर पूरा

ध्यान रहेगा तो संयम अच्छी तरह पलेगा और इनमें शिथिलता दिखलाओगे तो महाव्रतों में भी शिथिलता आने की सम्भावना रहेगी। यह छोटी सी उंगली भी अगर निकल जाती है तो पानी पीने में कठिनाई हो जाती है। सच तो यह है कि संयम और विवेक हमारी आदत में सम्मिलित हो जाना चाहिए। वह व्यसन बन जाना चाहिए।

मगर व्यसन का अर्थ यहाँ दुर्व्यसन नहीं समझना। दुर्व्यसन तो हर हालत में त्याज्य ही है; क्योंकि कोई भी दुर्व्यसन लग तो सहज ही में जाता है, मगर उस का मिटाना अत्यन्त कठिन हो जाता है।

तो राजकुमार लाड़ ही लाड़ में पक्का दुर्व्यसनी बन गया। लोक में कहावत है कि बेटा, बेटी और बींदणी (बींदणी मारवाड़ में पुत्र वधु को कहते हैं) यदि ये लाड़ ही लाड़ में रह जाते है तो बिगड़े बिना नहीं रहते। बिगड़ जाने के बाद उनका काबू में आना कठिन होता है। हाँ, यदि चेला-चेली को, बेटा-बेटी को और वधु को समय-समय पर उचित शिक्षा देते रहो, ताड़ना भी करते रहो और लाड़ की जगह लाड़ भी लड़ाते रहो, गर्माई की जगह गर्माई और नरमाई की जगह नरमाई दिखलाते रहो तो वे कुमार्ग पर नहीं जाएँगे और आज्ञाकारी रहेंगे। वे अपनी जीवन-नैय्या को भली-भाँति पार लगा सकेंगे।

सज्जनो! बुखार के रोगी को किसी समय मीठी दवाई देने की आवश्यकता होती है तो मीठी दी जाती है और यदि मीठी दवा से रोग नहीं मिटता तो फिर कुनैन भी देनी पड़ती है। तो जहाँ सुधार का प्रश्न हो, हितबुद्धि से अवश्य शिक्षा देनी चाहिए। सुधारना चाहिए पर बिगाड़ना नहीं चाहिए।

तो तात्पर्य यह है कि हमें अपने प्रत्येक छोटे-बड़े व्यवहार में सावधान रहना चाहिए और अपनी छोटी सी त्रुटि की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। कहा है—

ईर्या भाषा एषणा, ओलख लो आचार।
गुणवंत साधु देख के, वंदो वारंवार॥

साधु के साधुत्व का पता उसकी चाल और बोली आदि से ही चल जाता है।

यह ठीक है कि साधु भी छद्मस्थ है और उससे भूल हो जाना स्वाभाविक है। भगवान् महावीर के समय में भी साधु भावना में एक समान नहीं थे। आप अपने घर को ही देखो। सब बेटे सरीखे विचारों के नहीं मिलेंगे। फिर भी भूलों की सराहना नहीं करनी है और जिस-जिस में जो-जो त्रुटियाँ हों उन्हें दूर करना है। किसी के शिथिलाचार का पोषण नहीं करना है, परन्तु उसे सहनशील होकर दूर करना है।

हां तो राजा ने राजकुमार के दुराचार की उपेक्षा की तो राजकुमार बिगड़ गया। जब मामला बहुत बढ़ गया तो उसे बहुत समझाया और राह पर लाने की कोशिश की, मगर उसके दुर्व्यसन दूर नहीं हुए। परिणाम यह हुआ कि उसे कई रोगों ने घेर लिया। चिकित्सा के लिए कई वैद्य आए, डाक्टर आए और उन्होंने नाना प्रकार के उपचार किये, कीमती से कीमती दवाएँ दीं; साथ ही उन्होंने कहा—जब तक राजकुमार दुर्व्यसनों को नहीं छोड़ेंगे तब तक ये दवाएँ असर करने वाली नहीं हैं।

राजा आदि ने कुमार को बहुत समझाया कि शराब, भंग, अफीम, चरस आदि का सेवन छोड़ दो तो स्वस्थ हो सकते हो, किंतु

वह उन्हें छोड़ने को तैयार न हुआ। उसने कहा—इन्हें छोड़ कर जिन्दा रहने से भी क्या लाभ है? इन्हें छोड़ना तो मेरे लिए प्राण छोड़ना है।

आखिर चिकित्सक निराश हो कर चले गये। राजा की चिन्ता का पार न रहा।

सज्जनो! अगर राजा ने पहिले ही ध्यान दिया होता और कुमार को बिगड़ने से रोका होता तो आज यह अवसर न आया होता और यह दुर्दिन देखने को न मिलता। मगर पहले तो वह लाड़ लड़ाता रहा।

राजा मन में सोचता है—मेरा एक ही कुमार है और उसे कुछ हो गया तो राज्य का उत्तराधिकारी ही कोई नहीं रहेगा।

संयोगवश कुछ दिनों बाद देश-देश में विचरण करने वाले एक महात्मा वहाँ जा पहुँचे। राजा भी उनकी सेवा में पहुँचा। पर वहाँ पहुँच कर भी उसकी चिन्ता क्षण भर के लिए भी दूर न हो सकी। उसके मस्तिष्क में विचार आने लगे—कुमार बीमार है और चिकित्सक हताश हो कर चले गए हैं। वह चल बसा तो मेरे कुल का प्रकाश ही बुझ जाएगा।

आखिर राजा ने अपने दुःख की कहानी महात्मा को सुनाई। तब महात्मा ने कहा—तुम बहुतों का इलाज करा ही चुके हो, मेरा भी इलाज करा देखो। अगर रोग की समाप्ति का काल निकट आ गया होगा तो अवश्य मेरी दवा से लाभ हो जाएगा।

राजा राजी हो गया। दूसरे दिन राजा राजकुमार को साथ लेकर महात्मा जी की सेवा में पहुँचा। महात्मा ने राजकुमार की अंदरूनी नब्ज देखी और कहा—मैं इलाज कर दूँगा।

राजकुमार ने पूछा—महाराज, आप इलाज तो करेंगे पर पथ्य-परहेज क्या है ?

राजकुमार को भय था कि कहीं महाराज मेरी शराब अफीम आदि न छुड़ा दें।

महात्मा बोले—दवा के साथ पथ्य तो आवश्यक है कुमार, मगर वह कठिन नहीं है। तुम जिन-जिन चीजों का सेवन करते हो उन्हें कल से दुगुनी कर देना।

राजकुमार को और चाहिए ही क्या था ? उसने प्रसन्नता के साथ यह पथ्य स्वीकार कर लिया। मन में सोचा—यह तो बड़े अच्छे वैद्य मिल गये। वे डाक्टर, वैद्य निगोड़े कहते थे—शराब वगैरह का सेवन बन्द कर दो मगर इन्होंने तो दुगुनी सेवन करने को कह दिया। वास्तव में ये महात्मा अन्तर्यामी हैं।

प्रकट में राजकुमार ने कहा—मैं आपकी दवा अवश्य आरंभ करूँगा। आप हमारे बड़े शुभचिन्तक हैं। महाराज, इन वस्तुओं के सेवन में क्या गुण हैं ?

महात्मा—इन्हें दुगुना करने में चार गुण हैं। वे यह हैं—(१) जो बीड़ी, सुलफा आदि पीता है, उसके घर में चोर नहीं आते अर्थात् वह रात भर खों-खों खांसता रहता है। (२) वह मोटा ताजा हो जाता है, अर्थात् उसके शरीर में सूजन आ जाती है। (३) उसको चढ़ने के लिए सवारी मिलती है, अर्थात् वह पैरों से

चलने में असमर्थ हो जाता है। (४) उसे बुढ़ापे का दुःख नहीं देखना पड़ता, अर्थात् भर जवानी में ही उसकी मौत हो जाती है।

महात्मा का यह स्पष्टीकरण सुन कर राजकुमार की आँखें खुल गईं। वह घबरा कर बोला—महाराज, ये तो बड़े भारी दुर्गुण हैं। रात-रात भर नींद न आना, शरीर सूज जाना, चला न जाना और जवानी में मर जाना। महाराज, लानत है ऐसे दुर्व्यसनों को जो मनुष्य की जिन्दगी को बर्बाद कर देते हैं। मुझे इसका आज से ही त्याग करा दीजिए। आज से मैं इन जीवननाशक वस्तुओं की ओर फूटी आँख से न देखूंगा।

महात्मा ने राजकुमार को सब व्यसनों का त्याग करा दिया। राजा के सन्तोष और आनन्द की सीमा न रही। उसे जान पड़ा, मानो मैंने गया बेटा फिर पा लिया। उसके जीवन में भी नया प्रकाश आ गया।

राजकुमार को नया जीवन मिला। वह सन्मार्ग पर आ गया और अपने कुल का दीपक बना।

तात्पर्य यह है कि राग मनुष्य के परलोक को ही नहीं बिगाड़ता, बल्कि इहलोक को भी बिगाड़ देता है। यह आत्मा का परम शत्रु है। इसके रहते मनुष्य नेत्र होते भी अन्धा और कान रहते भी बहरा बन जाता है। अतएव जीवन को सही राह पाने के लिए अत्यावश्यक है कि रागभाव का त्याग किया जाए। पूरी तरह त्याग सम्भव नहीं है तो कम से कम उसे इतना प्रबल तो नहीं होने देना चाहिए कि वह राहु बन कर जिन्दगी को ही निगल जाए।

जो भव्य जीव इस वस्तु-तत्त्व को समझ कर राग का त्याग करते हैं, वे संसार-समुद्र से पार हो जाते हैं।

ब्यावर
१६--१०—५६

आन्तरिक दोष-परित्याग

उपस्थित महानुभावो !

कल राग, द्वेष और, मोह, इन तीन दोषों में से राग की किंचित् व्याख्या की गई थी । दो दोषों की व्याख्या अभी शेष है। आज उन पर कुछ प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जायगा ।

आप जानते ही हैं कि इन दोषों ने आज से नहीं, अनन्त-अनन्त काल से आत्माओं को अपने चंगुल में फँसा रक्खा है, ये दोष सदा से संसारी जीवों को संत्रस्त कर रहे हैं । इन्हें उखाड़ फेंकना सहज नहीं है। फिर भी मोक्षगामी भव्यात्माएँ साधना के बल पर उन्हें उखाड़ फेंकती हैं।

जिसने भारतवर्ष का इतिहास पढ़ा है, उसे पता है कि आज से कुछ सौ वर्ष पहले ब्रिटिश-अंगरेज़ लोग भारत में आये थे और व्यापारी बन कर आये थे । उन्होंने अपनी हिकमत से, बुद्धिमत्ता से छलकपट से धीरे-धीरे सारे भारत पर अपना आधिपत्य कायम कर लिया और फिर लम्बे समय तक शासन किया। उन्होंने मीठे ठग की तरह आकर्षण दिखा-दिखा कर भारतीय प्रजा को लूटा-खसोटा और यहाँ की अपार सम्पत्ति, कोहेनूर हीरा तक, ले गये। वे यह तो समझते थे कि यहाँ हमारा राज्य है, मगर यह नहीं मानते थे कि यह हमारी मातृभूमि है। उनका मोह लंदन से था और उनकी आँखें सदैव उसी ओर रहती थीं। शासक होने पर भी उनके हृदय में अपने

परायेपन का पक्षपात था। जिस देश पर शासन करके शासक फलता-फूलता है उस पर उसकी सुदृष्टि रहनी चाहिए, किन्तु उनकी राज-नीति ने यह समदृष्टि नहीं अपनाई। उसका परिणाम यह निकला कि अन्त में उन्हें अपना वोरिया-बिस्तर समेट कर भागना पड़ा। सत्य और अहिंसा से प्रेरित हो कर गांधी जी की एक ऐसी आँधी आई कि उन्हें यहाँ से उखड़ जाना पड़ा और वे लंदन में जाकर ही टिके। इस प्रकार उनकी राग-द्वेषमयी परिणति ने ही उनके शासन को जड़ों को खोखला कर दिया।

ब्रिटिश साम्राज्य इतना लम्बा-चौड़ा था कि लोग कहते हैं—उसमें सूर्यास्त ही नहीं होता था। यों तो चक्रवर्ती से बड़ा कोई राजा हुआ नहीं और होगा भी नहीं, परन्तु इस काल में जानी हुई दुनिया में ब्रिटिश साम्राज्य ही सब से ज्यादा विस्तृत था। मगर उनकी दुर्नीति के परिणामस्वरूप वह विशाल साम्राज्य टिक न सका और धीरे-धीरे क्षीण क्षीणतर होता गया। कई देशों पर से उसका शासन नष्ट हो गया।

जिसका हृदय विशाल होता है, उसे सब पदार्थ विशाल ही दृष्टिगोचर होते हैं। और जब मनुष्य के हृदय में संकीर्णता आ जाती है, अपनत्व-परत्व की क्षुद्र भावना बढ़ जाती है तो दृष्टि के अनुसार सृष्टि भी संकीर्ण हो जाती है। दृष्टि में संकीर्णता आने पर सृष्टि संकीर्ण ही दिखाई देती है, क्योंकि आँखों में देखने की जितनी शक्ति होगी, उतना ही वह देख सकेंगी।

मनुष्य को चाहिए कि वह राग-द्वेष से ऊँचा उठ कर अपने हृदय को विशाल बनावे और उसमें संकीर्णता न आने देवे। संकीर्णता आने पर उसका जीवन सिमट कर छोटी-सी दुनिया में सीमित रह

जाता है। इसके विपरीत, जब मनुष्य के हृदय में विशालता आती है, तब वह समझने लगता है कि जगत् के प्राणीमात्र मेरे हैं और मैं इनका हूँ, तो सारा विश्व ही उसके लिए आत्मवत् बन जाता है। संसार में उसका कोई शत्रु नहीं रहता।

मगर दृष्टि में इस प्रकार की विशालता तभी आती है जब राग-द्वेष की परिणति का शमन होता है। जो राग और द्वेष से ग्रस्त हैं, उनकी दृष्टि विशाल नहीं हो पाती।

तो मैं कह रहा था कि मनुष्य की दृष्टि में ज्यों-ज्यों संकीर्णता आती है, त्यों-त्यों उसका हृदय भी संकीर्ण होता है। काफी अर्से तक शासन करने पर भी अंगरेजों की दृष्टि में विशालता न होने से उनके चले जाने की तारीख मुकर्रर कर दी गई, पर वे उस तारीख से पहले ही बिस्तर गोल कर गये। उनका भारतवर्ष में व्यापारी बन कर आना और शासन करना भी इतिहास में लिखा है और जाना भी इतिहास में लिखा है। मनुष्य की अच्छी-बुरी सभी बातें नोंध में आ जाती हैं।

अंगरेजों ने शासन स्थापित करने के लिए लड़ाइयाँ लड़ीं और संघर्ष किया और जब वे यहाँ से गये तो यों ही नहीं चले गये। उन्हें निकालने के लिए भारतवासियों को अनेक बलिदान देने पड़े। कितने ही देशभक्त फाँसी के तख्ते पर झूल गये, तब कहीं वे यहाँ से निकल सके।

मगर एक बात ध्यान में रखना है। अंगरेज स्थूल दृष्टि से तो यहाँ से चले गये पर सूक्ष्म दृष्टि से अब भी मौजूद हैं। अर्थात् उनकी फैलाई हुई जहरीली गैस अब भी काम कर रही है और भारत में

शान्ति स्थापित होने में बाधक बन रही है। आज भी भारतवासियों को बरगलाने वाले विदेशी जासूस पकड़े जाते हैं।

तो कहना यह है कि उनके चले जाने पर भी उनके छोड़े हुए तपैदिक के कीटाणु भारत में बराबर काम कर रहे हैं। अगर भारत के डाक्टर परिश्रमी न होते, होशियार न होते तो भारत का कभी का शरीरान्त हो गया होता। वे तो बड़ी आशा से तपैदिक के कीटाणुओं को छोड़ कर गये थे। समझते थे कि भारतीय इनसे मर जाएँगे और हमें इलाज करने के लिए फिर बुलाएंगे, किन्तु यहाँ के डाक्टर डाक्टर ही नहीं, धन्वन्तरि वैद्य भी हैं। उन्होंने उन कीटाणुओं का सफाया कर दिया। अब न रहेगा बांस न बजेगी बांसुरी।

करीब छः सौ रियासतें अंगरेजों की भक्त थीं। वे इस देश के लिए तपैदिक के कीड़ों के समान मानी जाती थीं। पटेल जैसे देश-भक्त राजवैद्य ने सब से पहले, बड़ी हिकमत से उन्हीं की नाक में नकेल बांधी और सब को समाप्त करके नवीन प्रदेशों को जन्म दिया। उसने सोचा अधिक इकाइयाँ रहेंगी तो भारत की स्थिति कमज़ोर ही बनी रहेगी और कभी छिन्न-भिन्न होने का भी प्रसंग आ जायगा। उसने राजाओं से कहा—यह राज्य तुम्हारा है, शासन तुम्हारा है और हम सब तुम्हारे हैं। आओ, हम सब मिल कर अपनी मातृभूमि की सेवा करें।

सज्जनो! शताब्दियों के निरंकुश शासकों को काबू में करना आसान काम नहीं था और देश को सुसंगठित करने के लिए पृथक्-पृथक् इकाइयों का विलीनीकरण होना भी अत्यावश्यक था। वह होने से ही भारत की शक्ति दृढ़ हुई और भारत का शरीर सुन्दर

सुव्यवस्थित दिखाई देने लगा । शरीर से हाथ पैर आदि अवयव अलग कर दिये जाते हैं तो वह शरीर नहीं कहलाता और उन जुदा-जुदा अंगों का भी कोई महत्त्व नहीं रहता । वे किसी काम के भी नहीं रहते । किन्तु वही अंग जब शरीर से संबंधित रहते हैं तो शरीर उपयोगी रहता है और सब अंग भी अपना-अपना काम करते रहते हैं।

इसी प्रकार राष्ट्र, समाज, जाति एवं संघ की शक्तियाँ जुड़ी रहती हैं तो वह राष्ट्र और समाज आदि सुचारुरूपेण काम करते हैं और सिर ऊँचा कर के चलते हैं। सुसंगठित समाज ही दुनिया में शान के साथ, गौरव के साथ और आनन्द के साथ अपनी जिंदगी व्यतीत करता है। विघटन और अस्तव्यस्तता समाज के लिए अभिशाप हैं और उस के रहते जीवन कीड़ों-मकौड़ों का जीवन बन जाता है।

तो मैं यह कह रहा था कि भारत में ब्रिटिश साम्राज्य सीमित समय से था, फिर भी उसे हटाने के लिए भारत के सपूतों को, नौनिहालों को और रमणियों को जीवन की आहुति देनी पड़ी और बड़ी मुसीबतों का सामना करना पड़ा। किन्तु ऐसी स्थिति में जो राग द्वेष और मिथ्यात्व की त्रिमुखी शक्ति हमारी आत्मा पर अनन्त काल से शासन कर रही है और बड़ी हिकमत से अपना आधिपत्य जमाए हुए है, उसका उखाड़ना कितना कठिन है ! उसे निकालने के लिए भारी कुर्बानी करनी ही पड़ेगी। जब इन लौकिक तत्त्वों को निकालने के लिए भी बड़े दिमाग और होशियारी की तथा त्याग की आवश्यकता होती है तो उन आन्तरिक तत्त्वों के पृथक्करण के लिए कितना उत्सर्ग करना होगा, यह कल्पना करना कठिन नहीं है।

तो शिष्य ने गुरुदेव से जो प्रश्न किया है, वह बड़े महत्त्व का है। प्रश्न यों ही नहीं किया जाता । उस के लिए भी योग्यता चाहिए। जैसा प्रश्न होगा, उत्तर भी वैसा ही होगा । उच्च कोटि का प्रश्न वही कर सकता है जिस में उच्च कोटि की योग्यता हो। प्रश्न करने के लिए बुद्धि चाहिए और हौंसला भी चाहिए।

यहाँ जो प्रश्न प्रस्तुत है अतीव उपयोगी है । उससे आत्मा की उलझी हुई गुत्थी सुलझ सकती है । शिष्य कहता है - भगवन् आत्मा में उपरोक्त तीन दोष लगे हुए हैं । इन्हों ने आत्मा पर साम्राज्य स्थापित कर रक्खा है । आत्मा की स्वाधीनता को छीन लिया है। आत्मा को परतंत्रता के पाश में जकड़ दिया है इनके कुप्रभाव के कारण आत्मा सन्मार्ग की ओर न जाकर कुमार्ग की ओर अग्रसर हो रहा है।

पहले एक अंग्रेज अफसर होता था तो हजारों हिन्दुस्तानी सैनिक गार्डरों की तरह उसकी तैनाती में रहते थे । वह उन्हें मनचाहा नाच नचाता था। इसी प्रकार ये तीन दोष जीव को अपनी उंगलियों के इशारे पर नचा रहे हैं । इन तीन महान् दोषों में प्रथम भयानक शत्रु राग है । यद्यपि राग पुद्गल रूप है और उष्ण नहीं शीत पुद्गल रूप है, किन्तु इतना जहरीला और गुणघातक है कि इसके प्रभाव से जीव अपने को ही भूल जाता है।

रागान्ध पुरुष की निर्णायक शक्ति नष्ट हो जाती है । उसे अपनी वस्तु के सिवाय दूसरों की अच्छी से अच्छी वस्तु भी पसंद नहीं आती। वह अपनी सड़ी-गली वस्तु को भी सर्वोच्च मानता है और दूसरों की उत्कृष्ट वस्तु को निकृष्ट समझता है। राग दृष्टि को इस प्रकार सदोष बना देता है।

सरागी की दृष्टि इतनी मलीन होती है, इतनी क्षुद्र होती है कि वह अपनी इज्जत, शान और आन को बढ़ाने के लिए कोशिश करता है पर दूसरों की इज्ज़त और शान को मिटा कर। वह चाहता है कि दूसरों की इज्ज़त तो मिट्टी में मिल जाय और मेरी बढ़ जाय। कभी-कभी तो वह दूसरों की इज्ज़त के बिगड़ने में ही अपनी इज्ज़त मानता है।

भद्र पुरुषो! इज्ज़त बढ़ने का यह तरीका नहीं है। कोई लाख कल्पनाएँ कर ले, कोशिश कर ले और इच्छा कर ले कि मैं दूसरों की शान बटोर लूं। मगर ऐसा होने वाला नहीं है। भाई दूसरे ने मान के योग्य काम किये तब उन्हें मान मिला है। तू तो उलटे काम कर रहा है। तुझे मान कैसे मिलेगा? निन्दनीय कृत्यों से तुझे सन्मान किस प्रकार मिल सकता है? जो रात है वह दिन के प्रकाश को लौटा नहीं सकती। क्योंकि जो रात स्वयं काली है, वह दिवाप्रकाशमयी कैसे बन सकती है?

श्रीमद् भगवतीसूत्र में प्रश्न किया गया है कि भगवन्! दिन क्या है और रात्रि क्या है?

भगवान् ने उत्तर दिया—दोनों ही पुद्गल हैं। परन्तु जो पुद्गल शुभ हैं और जिनसे अन्धकार का नाश होता है, वे जब प्रकाशित होते हैं तो वही दिन कहलाता है। और जब अशुभ पुद्गलों का साम्राज्य होता है तो निविड़ अन्धकार छा जाता है। वही रात्रि कहलाती है।

इस प्रकार रात्रि और दिन, दोनों को उत्पन्न करने वाले पुद्गल इसी विश्व में विद्यमान हैं। इस पूर्वोक्त कथन से प्रश्न में

बड़ी विषमता उत्पन्न हो जाती है और समस्या टेढ़ी हो जाती है। जब दोनों ही प्रकार के पुद्गल विश्व में सदैव विद्यमान रहते हैं तो दिन के समय रात्रि और रात्रि के समय दिन क्यों नहीं होता ? दोनों बारी-बारी से क्यों होते हैं ? आखिर इस प्रकार के विभाग का कारण क्या है ?

सज्जनो ! बात यह है कि संसार में दोनों प्रकार के पुद्गल तो हर समय विद्यमान हैं किन्तु जिस समय सूर्य उदय होता है और उसकी प्रकाशमयी किरणें फैलती हैं तो वे पुद्गल जो शुभ हैं, वर्ण, रस, गंध और स्पर्श से अच्छे हैं, सूर्य का संयोग मिलने से चमकने लगते हैं और इस प्रकार दिन हो जाता है। जैसे—आँखें पहले ही अच्छी हों और फिर चश्मा लगा लिया जाय तो उनकी रोशनी चमक उठती है, उसी प्रकार स्वभाव से स्वच्छ पुद्गल सूर्यरश्मियों के संयोग से विशेष रूप से चमकने लगते हैं।

चश्मा लगाने से आँखों में कोई नई रोशनी नहीं आ गई। वह तो पहले से ही विद्यमान थी। पर उसे चमका देने में चश्मा निमित्त बन जाता है। अगर आँखों में रोशनी न होती तो एक चश्मा तो क्या हजार सूर्य भी रोशनी उत्पन्न नहीं कर सकते थे। आप जानते हैं कि किसी की आँखों की रोशनी इतनी धुंधली होती है कि वह बारीक अक्षर नहीं पढ़ सकता। किन्तु चश्मा लगाते ही छोटे अक्षर साफ और बड़े दिखलाई देने लगते हैं।

तो दिन को जन्म देने वाले पुद्गल रात्रि में भी मौजूद थे। पर उस समय उन्हें समुचित संयोग नहीं मिला था। सूर्योदय होने पर वह संयोग मिलता है और इसी कारण वे प्रकाशमान हो उठते हैं। अशुभ पुद्गल उनके प्रभाव से तिरोहित हो जाते हैं, जैसे थोड़े

से पीले रंग में काला रंग डाल दिया जाय तो वह तन्मय हो जाता है।

अभिप्राय यह है कि रोशनी तो पहले भी थी और चश्मा लगाने पर भी है, किन्तु चश्मे के निमित्त से वह आविर्भूत हो जाती है।

सज्जनो! यों तो रात्रि में भी दिखलाई देता है और आप पूछ सकते हैं कि रात्रि को दिखाई देने का क्या कारण है? यद्यपि आप रात में अधिक नहीं देख सकते मगर उल्लू और चमगादड़ के लिए तो रात भी दिन के समान है। उन्हें अन्धेरे में ही दिखाई देता है। जब सूर्य अस्त हो जाता है तो उनकी जान में जान आती है। सूर्यास्त का समय उनके लिए प्रभातवेला है। प्रभात की लाली आपके लिए दिन का उदय है तो सन्ध्या को लालिमा को वे अपने लिए सूर्योदय समझते हैं।

जहाँ सज्जन पुरुषों के लिए दिन में दिन और रात में रात है, वहाँ क्षुद्र-नीच प्राणियों के लिए दिन में रात और रात में दिन होता है। जिसका जैसा स्वभाव है, उसके लिए वस्तु वैसी ही प्रतीत होने लगती है।

तो रात में भी किसी-किसी प्राणी को दीखता है, क्योंकि आँखों का शीशा ही वैसा है। चश्मा देने से पहले डाक्टर; जिसे चश्मा देना होता है उसकी आँखों की रोशनी की परीक्षा करने के लिए काली कोठरी में ले जाते हैं। फोटो खींचते समय भी कैमरे पर काला पर्दा लगा लिया जाता है। क्योंकि फोटो खींचने वाला यन्त्र प्रकाश में काम नहीं करता।

अरे ! बनावटी यन्त्र—शीशा-मनुष्य की तैयार की हुई चीज़ का भी ऐसा स्वभाव है कि वह अन्धेरे में ही काम करता है. तब सज्जनो ! जिन्हें कुदरती शीशा ही ऐसा मिला है उन्हें अन्धेरे में ही नज़र आवे तो कौन-सा आश्चर्य है ?

तो दिन और रात के विषय में मैंने आपको बतलाया कि यह शुभ और अशुभ पुद्‌गल स्वरूप हैं। मगर इतना कह देना ही पर्याप्त नहीं है। यद्यपि भगवतीसूत्र में ऐसा उल्लेख है और शास्त्रीय वचन विश्वसनीय होते हैं। तथापि मस्तिष्क की तुष्टि उसके व्यौरे को समझे बिना नहीं होती। जब किसी तथ्य को प्रमाणित करने के लिए प्रमाण, हेतु, उदाहरण उपस्थित कर दिये जाते हैं तो वह स्पष्ट हो जाता है। हाँ, कई विषय ऐसे भी होते हैं जिनमें तर्क का प्रवेश ही संभव नहीं होता, ऐसे विषयों को आत्मकथनमूलक ही मानकर स्वीकार करना पड़ता है और करना चाहिए। हमारी स्थूल मति उनमें अवगाहन नहीं कर सकती। वे विषय केवल ज्ञानियों की लोकोत्तर दृष्टि में ही आ सकते हैं। अतएव उनमें क्यों और कैसे का प्रश्न नहीं उठ सकता। उदाहरणार्थ मोक्ष के सुख को लीजिए। मोक्ष में अनन्त असीम आत्मिक सुख है, यह केवली भगवान् का कथन है। परन्तु उसकी स्पष्ट कल्पना हमें नहीं आ सकती। उसको समझाने के लिए कोई उपमा नहीं है। वह असाधारण वस्तु है। उपमा दें तो किससे दें ? संसार की सब उपमाएँ उसके सामने नगण्य हैं। सूर्य अपनी शानी का एक ही है तो उसके लिए किसकी उपमा दी जाय ? चन्द्रमा भी असाधारण है और उसकी तुलना किसी से नहीं की जा सकती।

तो मोक्ष के सुख के लिए कोई उपमा नहीं है। मोक्ष सरीखा उससे बढ़ कर दूसरा कोई सुख होता तो उपमा बन जाती। मगर ऐसा है नहीं।

साधारणतया ऐसा कोई पुद्गल नहीं है जिसके मुकाबिले का दूसरा पुद्गल न हो। ज्ञानी पुरुषों ने बताया है कि आज जो पुद्गल अमुक एक संस्थान में नजर आते हैं, वही दूसरे क्षण दूसरे रूप ढल जाते हैं। वर्ण रस गंध और स्पर्श पुद्गल का स्वभाव है और उसका किसी आकृति विशेष में ढल जाना संस्थान है। हम किसी भी चीज को एक संस्थान में ढली हुई देखते हैं, जैसे यह गोल है, लम्बी है, चौड़ी है, त्रिकोण है या चतुष्कोण है। परन्तु ज्ञानी पुरुष एक ही वस्तु में एक साथ अनेक संस्थान देखते हैं। हम व्यवहार में एक वस्तु का एक संस्थान कहते हैं और कहना चाहिए भी, क्योंकि जैसी वस्तु हमें दीखती हो, उसे वैसा ही कहना चाहिए, फिर भी बाह्य और अन्तरंग दृष्टि को ध्यान में रखना पड़ेगा।

हमें जहाँ काली, पीली, नीली या लाल में से किसी एक ही रंग की वस्तु दिखलाई देती है और हम समझते है कि वस्तु में एक ही रंग है, मगर ज्ञानियों का कथन है कि एक ही वस्तु में पाँचों रंग वर्त्तमान हैं। यद्यपि कोयला काला ही दृष्टिगोचर होता है परन्तु ज्ञानियों ने उसमें भी पाँचों रंग बतलाए हैं। गुलाब का फूल भले ही हमें एक ही रंग का दीखता हो लेकिन ज्ञानियों ने उस में भी पांचों रंग देखे हैं। बात यह है कि हमारी स्थूल दृष्टि स्थूल रंग को ही ग्रहण कर सकती है। सूक्ष्म रंग उसकी पकड़ में नहीं आते।

तो संसार में ऐसा कोई भौतिक पदार्थ नहीं है जो एकान्ततः अपनी ही सानी का हो और उसके मुकाबिले का कोई दूसरा पदार्थ हो ही नहीं।

तो बतलाया गया है कि रात और दिन दोनों ही पुद्‌गल रूप हैं। रात्रि में अशुभ पुद्‌गलों की प्रधानता होती है और दिन में शुभ पुद्‌गलों की। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि रात कार्य है और विशिष्ट पुद्‌गल उसके कारण हैं। जैसे आटा कारण और रोटी कार्य है।

यहाँ भी प्रश्न उठ सकता है कि तब आटे को ही रोटी क्यों न कह दिया जाए? मगर यह ठीक है कि आटे से ही रोटी बनती है और आटा ही रोटी का रूप धारण कर लेता है फिर भी सिर्फ आटा ही रोटी नहीं है। आटा रोटी का रूप तभी धारण करता है जब उसमें पानी मिलता है और दूसरे साधन उसे एक विशेष प्रकार का स्वरूप प्रदान करते हैं। अतएव अकेले आटे को रोटी नहीं कह सकते। इन बहिनों के कंदोरे अणके और रणके वगैरह आभूषण सोने-चांदी के बने हैं तो भी सोने-चांदी को ही आभूषण नहीं कहा जा सकता। जब तक सोना-चांदी अपने ही रूप में हैं तब तक उसको आभूपण नहीं कह सकते। यद्यपि थोड़े समय में ही उस सोने-चांदी में आभूषण का रूप आ जाता है, फिर भी अभी तो उसमें वह रूप नहीं आ पाया है। सोने को सुनार, फूँकनी, हथौड़ा, सुहागा आदि साधन मिलते हैं तब वह आभूपण के रूप में आता है। फिर वह सोना-चांदी न कहला कर आभूषण कहलाने लगता है।

इसी प्रकार रात को जन्म देने वाले पुद्‌गलों को जब सूर्यास्त का साधन मिलता है तो वे रात्रि का निर्माण कर देते हैं और उस समय भी दिनजनक पुद्‌गल बने रहते हैं पर सर्योदय का जब निमित्त

पाते है तभी दिन का निर्माण करते हैं। इस प्रकार पुद्गलों का नाना विध परिणमन होता रहता है और यह रात्रि-दिन बाह्य जगत् में ही नहीं, आन्तरिक जगत् में भी होता रहता है।

आत्मा का राग, द्वेष, मोह से आवृत होकर मलीन हो जाना आत्मा की रात्रि है और जब यह विकार रूपी अन्धकार दूर हो जाता है और आत्मा के स्वाभाविक चैतन्य का चमत्कार प्रकट होता है तो वही आत्मा का दिन है।

रागादि दोषों को जीतना महापुरुष का ही काम है। या यों कह लीजिए कि जो इन दोषों को जीतता है, वही महा-पुरुष कहलाता है।

रागी पुरुष की दृष्टि इतनी विपर्यस्त हो जाती है कि वह सुखजनक पदार्थो को और दुःखजनक पदार्थो को सुख का साधन समझ लेता है और इसी कारण विपरीत प्रवृत्ति करता है। यही नहीं, रागातुर प्राणी राग में अन्धा होकर अपने प्राणों को भी खो बैठता है।

भ्रमर को पुष्प के सौरभ के प्रति कितना अनुराग होता है? वह उस अनुराग के पीछे अपने प्राणों को भी नष्ट कर देता है। कहा है—

भ्रमर कमल में जा फँसा, खुशबू की चाह में।
ता उम्र कैद आप वो बदकार हो गया ॥

सज्जनो! सूर्यविकासी कमल सूर्यास्त के पश्चात् सिकुड़ जाता है और पुनः सूर्योदय होने पर ही मुस्कराहट के साथ खिलता है और चन्द्रविकासी कमल, जिसे कुमुद कहते हैं, चन्द्रमा का उदय

होने पर ही विकसित होता है और सूर्योदय होने पर सिकुड़ जाता है।

तो इस दुनिया में भी कई सूरजमुखी फूल हैं जो धर्मकथा होने पर, महापुरुषों की गुणावली का गान होने पर खिल उठते हैं और कई ऐसे चन्द्रमुखी फूल हैं जो महापुरुषों की कीर्ति, स्तुति और गुणावलि सुनते हैं तो उनके पेट में दर्द होने लगता है और वे मुरझा जाते हैं।

जिन्हें गुणी जनों का गुणगान पसन्द नहीं है, समझना चाहिए कि उन्हें सूर्य पसन्द नहीं है, वल्कि अन्धकार प्रिय है। हाँ, जब पाप का प्रसंग आएगा और निन्दा एवं चुगली का समय आएगा वे फूल खिल उठते हैं। उनमें दबे हुए अरमान पूरे हो जाते हैं। मगर यह राई उन्हें वहुत महँगी पड़ेगी।

राग-द्वेष से अन्धा होकर मनुष्य ढूंडता फिरता है कि कहीं दूसरों का कोई छिद्र मिल जाए तो मेरी मुराद पूरी हो जाय। वह गिरगिट की तरह रंग वदलता है। कभी कुछ और कभी कुछ कहता है।

यदि कोई चित्रकार चित्र वनाना चाहता है तो साधन चाहिए। विना उपयुक्त साधनों के चित्र नहीं वनेगा। किसी का फोटो तभी कैमरे में आ सकता है जव उसका अस्तित्व हो। अस्तित्व ही नहीं तो भले फोटोग्राफर के दादा और परदादा भी उठ-उठ कर चले आएँ और पच-पच कर मर जाएँ और फोटो खींचते २ कैमरा फट जाय तो भी फोटो नहीं आएगा।

अरे वदनसीव! हतभागी! क्यों कैमरे की शक्ति को व्यर्थ नष्ट कर रहा है! ऐसा करते-करते कैमरा नष्ट हो जाएगा और

तेरी जिन्दगी ही खत्म हो जाएगी; किन्तु कारण के विना कार्य नहीं होगा। अरे, आटे के अभाव में रोटी कैसे बनेगी? चाँदी-सोने के विना आभूषण किस प्रकार वन सकते हैं और लाहे के विना हथकड़ियाँ कैसे तैयार हो सकती हैं?

निन्दक पुरुष! तू कैमरा तो लिए फिरता है किन्तु जव सामने वाले में वह दुर्गुण ही नहीं है तो कैमरे में कैसे आएगा? जव भी देखेगा तो कैमरा खाली का खाली ही मिलेगा।

किन्तु क्या करे वेचारा आदत से लाचार है। ऐसा किये विना उसे चैन नहीं है।

जिन्हें फोटो खींचने का शौक होता वे भी खींचे विना नहीं रह सकते! व्याख्यानवाचस्पति श्री मदनलाल जी महाराज देहली से जा रहे थे और मैं उन्हें विदाई देकर वापिस लौट रहा था। लाल किले के वाहर मैदान में एक अंगरेज ने हमें देखा और शायद सोचा— यह तो नया ही नमूना है। वह मेरी ओर वारीक निगाह से देखने लगा। जव हम निकट पहुँच गए तो उसकी मेम ने कहा—हम तुम्हारा फोटो लेंगे। तव मैंने कहा—नहीं, हम फोटो नहीं देंगे।

सज्जनो, उन लोगों में शिष्टता होती है, तो मैंने जव इन्कार कर दिया तो वे चल दिये। अगर हम खिचवाने को तैयार होते तो वे फोटो खींच लेते। किन्तु यदि हमारा अस्तित्व ही न होता तो उनके दिल में हमारा फोटो खींचने की कल्पना ही न उठती। अभिप्राय यह है कि जो चीज़ सामने होती है उसी का फोटो आ सकता है।

तो जिस की जैसी भावना होती है, उस का वैसा ही कार्य वन जाता है।

याद रखिए, सूर्योदय होने पर वे पुद्गल चमक जाते हैं, प्रकाशित हो जाते हैं, उसी को दिन कहते हैं। इसी प्रकार मनुष्य के हृदय में जो छिपी हुई शुभ भावनाएँ हैं, वे महापुरुषों के उपदेश रूपी सूर्य का उदय होने पर प्रकाशित हो उठती हैं। उनका हृदय ज्ञान-प्रकाश से आलोकित हो जाता है और वे दूसरों के जीवन को भी प्रकाशित कर देते हैं। मगर भाग्य के बिना वह उपदेश रूपी प्रकाश भी प्राप्त नहीं होता। भाग्यहीन को दिया जाय तो भी वह ग्रहण नहीं करता।

लखनऊ के एक नवाब थे आसफुद्दौला। उन्हें अपने पिछले पुण्य कर्म के उदय से राज्य मिल गया। जहाँ उसे भोगोपभोग के पदार्थ मिले और खजाना मिला वहाँ वह उस पर सर्प बन कर रख-वाले के रूप में नहीं बैठ गया, मगर खैरात बांटने और सम्पत्ति का सदुपयोग करने लगा। उसकी उदारता बढ़ती ही चली जाती थी। वह हर समय मुक्त हस्त से फकीरों को देता ही रहता था।

एक समय एक फकीर घूमता हुआ उसके महल के पास से गुजरा। नवाब साहब की प्रशंसा बहुत फैली हुई थी तो उसने भी खुशामद के शब्दों में प्रशंसा करते हुए कहा—'जिसे न दे खुदाताला उसे देवे आसफुद्दौला।'

नवाब ने यह पुकार सुनी तो सोचा—इसने तो मुझे खुदा से भी बड़ा बना दिया। यह बात उसे अच्छी नहीं लगी। वह झूठी मान-बड़ाई सुन कर खुश होने वाला नहीं था। उसने समझ लिया कि यह फकीर लालच के कारण मेरी बड़ाई कर रहा है।

खुशामदी लोग अपना मतलब गांठने के लिए गधे को भी बाप बना लेते हैं। मगर नवाब विवेकशील था। उसने ऐसा कहना

खुदा का अपमान करना समझा। फिर भी सोचा—आए हुए को तो देना ही चाहिए। यह सोच कर नवाब ने एक तरबूज मंगवाया और उसमें जवाहरात भर कर और उसे जैसा का तैसा करके फकीर को बुला कर दे दिया।

फकीर को तरबूज देख कर बहुत अफसोस हुआ। वह सोचने लगा—नवाब साहब का हृदय इतना उदार है फिर भी फकीर को तरबूज ही मिला। वह उदास मन से जा रहा था कि रास्ते मे एक आदमी मिला और बोला—फकीर साहब, तरबूज बेचोगे ?

फकीर—हाँ भाई, मुझे तो यह बेचना ही है।

आदमी ने फकीर को दो पैसे दे दिये। वह तरबूज लेकर अपने घर आ गया। फकीर ने दो पैसे के चने लेकर खा लिए। उधर उस आदमी ने तरबूज चीरा तो उसमें से मोहरें, हीरे, पन्ने आदि निकले। उन्हें देख कर उसकी प्रसन्नता का पार न रहा। उसका लाभान्तराय टूटा, वह मालामाल हो गया।

वही फकीर दो-चार दिन बाद नवाब के महल के पास से फिर गुज़रा तो बादशाह ने पूछा—फकीर साहब, कैसे हाल हैं ? तरबूज कैसा निकला ?

फकीर ने कहा—जहांपनाह ! मैंने तरबूज चखा ही नहीं; दो पैसे में बेच दिया था।

नवाब—साई बाबा, तुमने गजब कर दिया। उसमें तो मोहरें और हीरे-पन्ने भरे हुए थे।

यह सुना तो फकीर की ऊपर की सांस ऊपर और नीचे की नीचे रह गई। फिर उसने आह भर कर कहा—अब मैं उसे ढूंढूं भी तो क़हाँ ढूंढूं ?

फकीर को अत्यन्त दुःखी देख कर नवाब ने कहा—साईं ! राई के भाव रात को ही चले गये। अब अफसोस करना वृथा है। तुमने सिद्धान्त ही गलत अख्तियार किया था। तुमने कहा था—जिसे खुदा भी नहीं देता है उसे नवाब देता है। यह कह कर तुम ने खुदा की तौहीन की ! इससे खुदा की मेहरवानी की नास्ति हो जाती है। अब कहो तो ऐसा कहना—'जिसको नहीं दे खुदाताला, उसको नहीं दे आसफुद्दौला।' अर्थात् जिसको खुदाताला नहीं दे, भाग्य नहीं दे, पुण्य न दे, जिसने मिलने योग्य कर्म नहीं किये हैं, उसे आसफुद्दौला वादशाह भी नहीं दे सकता। उस भाग्यहीन को दुनिया में कोई भी देने वाला नहीं है। देखो, तुम्हें खुदा ने नहीं दिया था उसे आसफुद्दौला भी नहीं दे सका और जिसको—तरबूज लेने वाले को खुदा ने दिया उसे आसफुद्दौला के न देने पर भी मिल गया। अर्थात् जिस के भाग्य में है उसे उस वस्तु की प्राप्ति हो ही जाती है।

भद्र पुरुषो ! समय निकल जाता है और वात रह जाती है। भाग्य छत फाड़ कर नहीं आने वाला है। वह दोनों के वाजार में मिलता है। दुखियों के दुःख दूर करने से मिलता है। गुणियों के गुणगान की दुनिया में मिलता है। मगर इसको खरीदने के लिए राग, द्वेष और मोह का त्याग करना होगा। अभागे उस दुनिया में नहीं जा सकते। अतएव मानव जीवन पा कर किसी की विगड़ी को वनाओ, वनी हुई को मत विगाड़ो। राग-द्वेष को दिल से निकाल फैंको। ऐसा करने वाले संसार-समुद्र से पार हो जाते हैं।

व्यावर
१७–१०–५६.

रोगों की जड़

उपस्थित भद्र पुरुषो !

कल वतलाया गया था कि जीवात्मा इस संसार में अनन्त काल से परिभ्रमण कर रही है। नाना प्रकार की यातनाएँ भोग रही है और उन यातनाओं के कारण संतप्त हो रही है। उसे सुख नहीं मिल रहा है। वह अपने आनन्दस्वरूप से वंचित हो रही है। उसे दुःखों से राहत नहीं मिल रही है।

पानी स्वभावतः शीतल है, फिर भी अगर उसमें उष्णता आ गई है तो मानना पड़ेगा कि कोई वाह्य कारण अवश्य है जिसने जल की स्वाभाविक शीतलता में उष्णता रूप विकार उत्पन्न कर दिया है। मानना पड़ेगा या तो उस पर अग्नि का प्रयोग किया गया है, या वह धूप में रक्खा गया है जिससे सूर्य की गर्मी से उष्ण हो गया है, या विजली के संयोग से गर्म हुआ है या ज़मीन में अमुक तत्त्वों का संयोग पाकर गर्म हो गया है। कभी-कभी ज़मीन में से ही गर्म पानी निकलता है। इसका कारण पृथ्वी में मिले हुए गंधक आदि पदार्थ हैं। तात्पर्य यह है कि पानी में जो उष्णता आती है, उसका कोई न कोई वाह्य कारण ही होता है। अगर पानी में स्वाभाविक गर्मी होती तो सभी जगह पानी गर्म ही होना चाहिए था।

तो जिस प्रकार निसर्ग शीतल जल परपदार्थ के संयोग से उष्ण वन जाता है, उसी प्रकार आत्मा अपने स्वभाव से शीतल ही है, उसके स्वभाव में कोई विकार नहीं है; किन्तु वाह्य निमित्त मिल

जाने से उसके स्वभाव में विकृति-विरूपता आ गई है। कुछ अन्तरंग और कुछ वहिरंग कारणों से आत्मा मलीन, संतप्त और विकृत हो गई है। इसी से वह आत्मभाव को छोड़ कर अनात्मभावों में परिणत हो रही है।

नालायक बेटा, कलहकारिणी पत्नी या झगड़ाखोर पड़ौसी मिल जाय तो आये दिन झगड़ा मचा रहता है और आत्मा में क्लेश का वाह्य कारण मिल जाता है। कपूत बेटा अपने अनाचार और दुराचार से हमेशा पिता को कष्ट पहुँचाता है। जब-जब पिता उसको आज्ञा देता है, तब-तब ही वह उसकी अवहेलना करता है और उसकी शरारत की कोई न कोई शिकायत पिता के पास पहुँचती रहती है। इस से भी पिता की आत्मा में अशान्ति बनी रहती है।

इसी प्रकार कलहकारिणी पत्नी भी पति की आज्ञा का उल्लंघन करके मनमाना आचरण करती है और क्षण भर शान्ति नहीं लेने देती। पुरुष का कार्यक्षेत्र घर से वाहर है। जब वह बाहर रहता है तो व्यस्त रहता है। घर पर ही उसे शान्ति मिल सकती है। अगर घर में आते ही पत्नी परेशान करने लगे तो वह शान्ति कहाँ पाएगा ? यही बात पति के संबंध में भी कही जा सकती है। पति अगर कुराह पर चलता है और पत्नी के समझाने पर भी नहीं मानता तो पत्नी के लिए अशान्ति का कारण वन जाता है। जो पुरुष शराबी है, जुआरी है, वेश्यागामी है और अपनी कमाई को दुराचार में फूंक देता है, घर में खाने-पीने का सामान नहीं, वच्चे भूख से विलख रहे हैं, पढ़ाई और दवाई का साधन नहीं है, फिर भी वह परवाह नहीं करता और दुराचार के पोषण में ही पैसा वर्वाद कर देता है, वह पति पत्नी के दुःख का कारण वन जाता है।

कोई पड़ौसी कलहखोर है तो वात-वात पर उससे झगड़ा मचा रहता है। सड़ी-गली मामूली वातों पर भी कभी-कभी जंग छिड़ जाता है।

तो मनुष्य में थोड़ा विवेक होना चाहिए, जिससे क्लेश न हो। अगर हम अच्छे हैं तो सारी दुनिया हमारे लिए अच्छी होगी। मनुष्य जव भूल करता है तो दूसरों को उसकी ओर उंगली उठाने का अवसर मिल जाता है। यदि मनुष्य अपने मन को नियंत्रण में रक्खे, अपने विचारों को उदार और उन्नत वना ले तो झगड़ा होने के द्वार वन्द हो जाते हैं। एक आदमी कहता है—देखो जी, ऐसा मत करो। और दूसरा आदमी मान जाता है अथवा शान्ति के साथ अपना दृष्टिकोण उसे समझाता है तो झगड़े का कारण उत्पन्न नहीं होता। मनुष्य जव भूल पर भूल करता जाता है और कहने पर भी नहीं मानता है तभी क्लेश और कलह होता है। नानक जी कहते हैं—

एक ने कही दूसरे ने मानी,
कहे नानक वे दोनों ज्ञानी।

किन्तु जव एक का कहना दूसरा नहीं मानता तो तनाव वढ़ता है और ऐसी जगह दोनों अज्ञानी की कोटि में आ जाते हैं। जो मनुष्य हठी है और जिद्दी है, उसे छेड़ा जाय तो वह वन्दर की तरह ज्यादा-ज्यादा कूदता है। उसे न छेड़ने में ही अक्लमन्दी है और उसका सामना न करना ही बुद्धिमत्ता है।

सीख उसी को देनी चाहिए जो माने। जो सीख देने पर उलटा गले पड़ता हो, उसे सीख न देना ही अच्छा है। वहाँ मनुष्य को संयम कर लेना ही उचित है।

सीख वा को दीजिए, जाको सीख सुहाय।
सीख वांदरा कों दिये, घर वया का जाय।

वेचारी वया ने पानी में भीगते हुए और सर्दी से ठिठुरते हुए वंदर को शिक्षा दी कि अपने वचाव के लिए कोई स्थान क्यों नहीं वना लेते जिससे वर्षा और सर्दी में यह कष्ट न उठाना पड़े, तो वंदर ने गुस्से में आकर या चिढ़ कर वया का घौंसला ही तोड़ कर फैंक दिया।

तो यह जो रगड़े-झगड़े और कलह होते हैं, इनके मूल में प्रायः विवेकहीन वचन ही कारणभूत होते हैं। सुख का मूल मन्त्र विवेक है और दुख का मूल मन्त्र अविवेक है। जो व्यक्ति खाने-पीने उठने-वैठने, चलने-फिरने आदि क्रियाओं में विवेक युक्त रहता है, वह कहीं भी स्खलित नहीं होता—खता नहीं खाता। मगर जो इन सब क्रियाओं में विवेक नहीं रखता वह अवश्य अपमानित होता है और नुकसान उठाता है।

समय पर वही वात सुखदायी भी हो जाती है और दुःखदायी भी हो जाती है। शादी के समय औरतें अपने समधी को गालियाँ गाती हैं और विवाह के लिए आने वाले लड़के को ढेड़-चमार तक वना देती हैं, मगर रंगविनोद के समय वे गालियाँ भी प्रिय लगती हैं। वही गालियाँ किसी दूसरे समय दूसरे को दी जाएँ तो सिर-फुटौवल तक की नौवत आ जाती है। कहावत प्रसिद्ध है—

नीकी भी फीकी लगे, विन अवसर की वात।

वेमौके कही गई मीठी वात भी फीकी लगती है। फीकी ही नहीं वल्कि कड़वी भी तो यह निश्चित है कि जहाँ विवेक है वहाँ

सुख है, और जहाँ विवेकशून्यता है वहाँ दुःख तैयार है। अतएव जो भी कार्य करना चाहें, उसे आरम्भ करने से पहले उसके परिणाम का विचार कर ले। कहा भी है—

सोच करे सो सूरमा, कर सोचे सो कूर।
उसके सिर पर फूल हैं, उसके सिर पर धूल।

जो पहले काम कर डालता है और बाद में विचार करता है, वह अवश्य खता खाता है। मगर जो किसी भी कार्य के भले-बुरे परिणाम का विचार कर लेता है और उसके बाद ही कार्य आरम्भ करता है, वह शूरवीर कहलाता है। उसके सिर पर यश और विवेकशीलता के फूल चढ़ते हैं अर्थात् लोग उसकी शोभा करते हैं। तो सोच समझ कर विवेकपूर्वक किये गये कार्य का परिणाम श्रेष्ठ निकलता है और उस कामयाबी में लोग उसके सिर पर फूल बरसाते हैं, उसकी प्रशंसा करते हैं, मगर जो अच्छे-बुरे परिणाम का विचार किये बिना ही कुएँ में छलाँग मार देता है, उसका सिर फूट जाता है और हड्डियाँ टूट जाती हैं। यों तो कुएँ में कोई चीज़ गिर जाने पर निकालने के लिए लोग उसमें भी जाते हैं, मगर जाते वही हैं जिनमें योग्यता होती है और चीज़ भी ले आते हैं तथा स्वयं भी सही-सलामत लौट सकते हैं।

हाँ तो जिस प्रकार पानी में बाह्य कारणों से उष्णता आ जाती है, उसी प्रकार आत्मा में भी क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष, विषयविकार आदि विकृति आई हुई है। वस्तुतः ये आत्मा के स्वरूप नहीं हैं। ये कर्मोदय के फल हैं। अपने स्वभाव से तो आत्मा शुद्ध, बुद्ध और अनन्त चेतना शक्ति से समृद्ध है। आत्मा के सच्चे साथी तो उसके ज्ञान और दर्शन हैं और वे इह-परलोक में साथ रहते हैं। वे ही आत्मा की असली निधि हैं।

शास्त्रकार वतलाते हैं कि आत्मा में विकार आने के भी दो कारण हैं—वाह्य और अन्तरंग। कुछ तो माता, पिता, भाई, वहिन स्त्री, पुत्र, मित्र, पड़ौसी आदि के कुसंयोग मिल गये जो वाह्य-दृष्टि से संताप के कारण वन गये। दूसरा अन्तरंग कारण अपने आपमें विद्यमान रहता है। वाह्य कारण न होने पर भी भीतर छिपी हुई कपायवासना जव उभर आती है तव भाई-वीरा आदि मीठे वोलों से वुलाने पर भी वह कहता है—'रहने दो अपनी चापलूसी की वातें ! मैं तुम्हें अच्छी तरह जानता हूँ।

और ज्यादा कहो तो झगड़ा करने को तैयार। कपाय चार प्रकार से प्रकट होते हैं—अज्ञान से, परनिमित्त से, दोनों के कारण से, या निष्प्रयोजन ही। भीतर जो शैतान वैठा था, शिकारी बैठा था, उदयभाव का अवसर देख कर फोरन गोली दाग देता है। अर्थात् सत्ता में जो कर्म मौजूद थे, वे विना किसी के कुछ कहे-सुने ही उदय में आ जाते है और अपना प्रभाव दिखलाते है। जव कपायमोहनीय कर्म उदय में आता है तो व्यक्ति कपाय वश खाना-पीना छोड़ देता है और गल-गल कर मर जाता है। वाहर का कोई कारण न होने पर भी अंदर के कारण से ही यह हाल हो जाता है। जो मिट्टी में गंधक आदि के गर्म पुद्गल होते हैं, वे ही पानी को गर्म कर देते हैं। इसी प्रकार कषायें अन्दर से ही आत्मा में पलीता लगा देती हैं और फिर एकदम विस्फोट हो जाता है।

तो जीव ने जो कर्म वाँध लिये हैं, समझो कि उसने एटमवम तैयार कर लिया है और उसमें विषमता के परमाणु—कांच शीशा वगैरह भर दिये हैं। जव निमित्त और समय मिलेगा तो विस्फोट हो जायगा। उस समय प्रकृति को सँभालते-सँभालते भी वे वाहर आ जाते हैं और आत्मा को दूषित कर देते हैं।

तो यह आत्मा तो निसर्गतः आनन्दमय ही है, परन्तु विरोधी तत्त्वों ने इसको विकृत बना दिया है। अतएव मानना ही पड़ता है कि आत्मा में जो विकार हैं और दुःखों की जो विडम्बना भोगनी पड़ती है उसका कोई बाहरी कारण ही है। जब बिना कारण पानी गर्म नहीं होता तो आत्मा में विकृति भी बिना कारण नहीं आ सकती। ज्ञानी पुरुषों ने उस कारण को भी खोज कर निर्णय दिया है कि यह जो दुःखों की परम्परा चली आ रही है. उसे सप्लाई करने वाला—आगे से आगे वेग देने वाला कोई तत्त्व अवश्य होना चाहिए और वह त्रिरूप कारण है—राग द्वेष और मिथ्यात्व।

शरीरशास्त्रियों ने शारीरिक व्याधियों के मूल कारण तीन माने हैं—वात, पित्त और कफ। इन तीन की विषमता ही विविध प्रकार की शारीरिक व्याधियों की जनक है। इन तीन में से वात अर्थात् वायु चौरासी प्रकार की है। उन में से किसी वायु में किसी रोग को उत्पन्न करने का स्वभाव है और किसी से कोई रोग उत्पन्न होता है।

इसी प्रकार आध्यात्मिक जगत् के आत्मचिकित्सकों ने भी मूल रूप से उक्त तीन दोषों को ही नाना प्रकार की आत्मिक व्याधियों का कारण माना है। जैसे शरीर सम्बन्धी वात विकार से ८४ प्रकार के रोग हैं तो आत्मा के भी दुखी होने के ८४ लाख प्रकार हैं। चौरासी लाख जीव योनियों में यह आत्मा कष्ट पाता है। ये चौरासी लाख जीवयोनियाँ आत्मा के विकार ही हैं।

सज्जनो ! जब शरीर में एक वातव्याधि, जिसे गठिया वात कहते हैं, उत्पन्न हो जाती है तो शरीर का हलन-चलन भी बन्द हो जाता है और वह शरीर के जोड़-जोड़ को बन्द कर देता है। दूसरे

प्रकार का वात वह है कि जिससे पेट में गोला उठता है। जब पेट में वायु विशेष रूप से जमा हो जाती है तो वह गोला उठता है और उससे इतनी तीव्र वेदना होती है कि खाना-पीना भी बन्द हो जाता है। मनुष्य मछली की तरह तड़फने लगता है। तो जैसे चौरासी प्रकार की वायु है, उसी प्रकार पित्त और कफ के भी वैद्यों ने अलग-अलग अनेक भेद बतलाये हैं, जो आयुर्वेद से जाने जा सकते हैं।

तो मैं कह रहा था कि जैसे शरीर की बीमारियों के मूलतः तीन कारण हैं, इसी प्रकार आत्मा की समस्त बीमारियों के भी रागादि उपरोक्त तीन ही कारण हैं।

वैद्यों ने शारीरिक बीमारियों के कारण तो खोज निकाले किन्तु उन्हें आत्मा की बीमारी के आन्तरिक कारण नज़र नहीं आये। बाहरी बीमारी के कारणों को खोज निकालना कठिन नहीं है जब कि अन्दर के कारणों को ढूंढ निकालना बहुत मुश्किल है। मगर हमारे आध्यात्मिक क्षेत्र के जो सफल चिकित्सक थे, उनकी लोकोत्तर दृष्टि से बाहर के कारण और अन्दर के कारण भी छिपे न रहे। आज बाहर का रोग तो आँखों से देख लिया जाता है किन्तु अन्दर फेफड़ों में, हड्डियों में, या आन्तों में रसी पड़ गई हो या तपैदिक के कीटाणु लग गये हों तो वे बाहर से नजर नहीं आते। आज के वैज्ञानिकों ने अपने बुद्धिबल के द्वारा ऐसे साधन तलाश कर लिये हैं, जिन से शरीर के अन्दर की भी बहुत-सी बातें देखी जा सकती हैं। वे उन बातों को एक्स-रे के द्वारा फोटो लेकर देखते हैं। सम्भव है उसमें भी कोई त्रुटि रह जाय, कोई भूल हो जाय।

मगर हमारे जो अतिशय अद्वितीय निष्णात डाक्टर थे, वे अपने अनन्त ज्ञान और दर्शन से न केवल बाह्य चीजों को अपितु

अन्तरतर की भी चीजों को पूरी तरह देखते थे। उनकी दिव्य दृष्टि से बाहर के रोगों के कारण भी छिपे हुए नहीं थे और अन्दर के रोगों के कारण भी छिपे नहीं थे। क्योंकि वे डाक्टर सर्वज्ञ और सर्वदर्शी थे। उनके सम्पूर्ण ज्ञान से बाहर कोई चीज़ नहीं रही।

श्रीमद् ठाणांग सूत्र में भगवान महावीर ने बतलाया है कि नौ कारणों से शारीरिक रोगों की उत्पत्ति होती है तो ज्ञानियों से बाह्य रोगों के कारण छिपे हुए नहीं थे। अन्दरूनी आत्मिक बीमारी के तीन मूल कारण तो बतला ही दिये हैं। तो हमारे वे डाक्टर बड़े ही सफल डाक्टर थे। असाध्य से असाध्य रोग वाला, पापी से पापी भी उनकी शरण में चला जाता और उनकी दवा ले लेता तो वह पापों से, रोगों से, कर्मबीमारी से मुक्त हो जाता था। इस प्रकार एक नहीं अनन्त-अनन्त रोगियों को, जो अनन्त काल से जन्म-मरण के रोग से पीड़ित व्यक्ति थे नीरोग कर दिया। नीरोग भी ऐसे कि वे फिर मुड़ कर कभी रोग की चिकित्सा कराने के लिए न आये, बल्कि अजर-अमर बन गए।

आज तो अधिकांशतः ऐसे डाक्टर हैं जो रोगी से पूछ कर दवा तो दे देते हैं, पर उनके चले जाने पर फिर बुलाना पड़ता है। मगर हमारे डाक्टर एक बार में ही रोग को जड़ से उखाड़ देते थे। आज के इन डाक्टरों को भीतर की बीमारी का पता ही नहीं है कि रोगों की जड़ कहाँ है उनका निदान क्या है? असातावेदनीय कर्म के पुद्गलों को, जो इस जीव को दुःख दे रहे हैं, यदि कोई पूरी तरह देख सकता है, तो वे केवलज्ञानी ही हैं। वही उनका अचूक इलाज कर सकते हैं। छद्मस्थ उन्हें नहीं देख सकता। वे कर्मपुद्गल खुर्दबीन या दूरबीन किसी मशीन से भी नजर आने वाले नहीं हैं।

क्योंकि मशीन आठस्पर्शी है अर्थात् बहुत स्थूल है। आज का सूक्ष्म से सूक्ष्म यन्त्र भी आठस्पर्शी है. जब कि वेदनीय कर्म के पुद्गल चौ-स्पर्शी हैं, जो अत्यन्त सूक्ष्म हैं। चौस्पर्शी पुद्गल आठस्पर्शी यन्त्र के द्वारा दृष्टिगोचर नहीं हो सकते। उन्हें देखने का एक मात्र साधन दिव्य चक्षु हैं, दिव्य ज्ञानी ही उन्हें देख सकता है।

ज्ञानी पुरुषों ने यह भी बतला दिया है कि असातावेदनीय या सातावेदनीय कर्मों के पुद्गल किस प्रकार आत्मा के साथ संबंधित हुए हैं ? आखिर कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। तो असातावेदनीय कर्म के आत्मा के साथ बद्ध होने का कारण शास्त्र-कारों के इस प्रकार बतलाया है—

'पाणाणं भूयाणं जीवाणं सत्ताणं दुक्खणयाए, सोयणयाए, भूरणयाए, तिप्पणयाए, पिट्टणयाए, परितावणयाए।'

यहाँ बतलाया है कि कौन आत्मा कैसे-कैसे बुरे कारनामे कर के उन असातावेदनीय रूप, दुःख देने वाले अशुभ पुद्गलों को खींचती है ? कर्म यों ही आकर आत्मा में नहीं चिपक जाते। उन्हें खींचने वाला जीव अपनी क्रियाओं के द्वारा, बल-वीर्य के द्वारा खींचता है।

पाँच इन्द्रियाँ, मन-वचन-काय-बल, आयु और श्वासोच्छ्वास, इन दस प्राणों पर जीवन का खेल निर्भर है। इनकी विद्यमानता जीवन है और इनके अभाव में जीवन का भी अभाव हो जाता है।

प्राण, भूत, जीव और सत्त्व, ये सब जीव ही हैं; पर विशेष रूप में चार प्रकार के स्थावरों को सत्त्व संज्ञा दी है, वनस्पतिकाय

को भूत संज्ञा प्रदान की गई है, द्वीन्द्रिय आदि विकलेन्द्रिय जीवों को प्राणी संज्ञा दी गई है और पंचेन्द्रियों को जीव शब्द से कहा गया है।

सामान्यतया विचार किया जाए तो सभी जीव भूत हैं; क्योंकि वे भूतादि तीनों कालों में विद्यमान रहते हैं। जीव का न आदि है, न अन्त है। जीव जीवभाव से कभी मरता नहीं, सदा जीवित रहता है। श्री भगवतीसूत्र में प्रश्न किया गया है—

प्रश्न—जीवे णं भंते ! कालओ केवच्चिरं होइ ?

उत्तर—गोयमा ! सव्वद्धा।

यहाँ गौतम स्वामी ने भगवान् से प्रश्न किया था—भगवन् ! जीव जीव रूप से कितने समय तक रहता है ? भगवान् ने उत्तर में कहा—सर्व काल में। जीव सदैव जीव रूप में ही रहता है। जीव कभी भी अजीव होने वाला नहीं वह किसी भी योनी को प्राप्त क्यों न हो जीव से अजीव नहीं होगा।

यह सिद्धान्त की प्ररूपणा है। इसे ठीक समझे विना ज्ञान नहीं होता। मगर आप लोगों को जितनी सैद्धान्तिक जानकारी होनी चाहिए थी, नहीं हो सकी है। इसे प्राप्त करने के लिए विशेष रूप से प्रयत्नशील होना चाहिए। प्रथम तो आपने ही इस ओर ध्यान नहीं दिया, फिर सुनाने वाले भी राजा-रानी की कहानी कह कर आपको खुश करते रहे। इसी से आपकी ऐसी आदत हो रही है कि शास्त्रीय विषय आपको नीरस प्रतीत होता है और उसे छेड़ा जाय तो नींद आने लगती है। मैं चाहता हूँ कि आपकी रुचि का परिष्कार हो, उस में सुधार हो और शास्त्रीय विषय आपको रुचिकर लगने लगें।

तो प्राणी वही है जो प्राणों को धारण करता है। प्राणों को धारण करने वाला प्राणी अर्थात् जीव, जीव रूप से कितने काल तक रहता है? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है—'सव्वद्धा।' अर्थात् जीव सदा-सर्वदा रहने वाला है। चाहे यह किसी भी पर्याय में हो, नरक, तिर्यंच, मनुष्य या देव अथवा मोक्ष में भी चला जाय, मगर जीव जीव ही रहेगा। वह जीवत्त्व भाव का परित्याग करके अजीव नहीं बन सकता।

किसी-किसी सम्प्रदाय की मान्यता है कि जीव जब मोक्ष प्राप्त कर लेता है, निर्वाण पद की प्राप्ति करता है, तो उसका आत्मभाव भी मिट जाता है। उसकी अपनी कोई सत्ता नहीं रह जाती। जैसे दीपक जलते-जलते बुझ जाता है, उसी प्रकार आत्मा का बुझ जाना, सत्ता से शून्य हो जाना ही निर्वाण है। किन्तु सज्जनो! मोक्ष प्राप्त होने पर यदि आत्मा का अस्तित्व ही मिट जाता हो तो यह सौदा तो बड़ा महँगा है। मोक्ष प्राप्त करने के के लिए कितनी कठोर साधना करनी पड़ती है? घोर तपश्चरण, यम-नियमों का पालन आदि जो किया जाता है, सो क्या अपनी सत्ता को निर्मूल करने के लिए ही? जब मोक्ष के सुख का आस्वादन करने वाली आत्मा ही मिट गई तो उसका आस्वादन कौन करेगा? तमाशा तो वही देखता है और वही उसका आनन्द लूटता है जो जीवित रहता है। यदि तमाशा देखने वाला ही मर जाए तो फिर तमाशा देखेगा ही कौन? कहावत है—"आप मरा तो जग प्रलय।"

बुद्धधर्म में सभी पदार्थ क्षणिक हैं, आत्मा भी क्षणिक है। प्रत्येक समय में वह नवीन उत्पन्न होती और नष्ट होती रहती है।

उत्पाद और विनाश का यह प्रक्रम अनादि से चल रहा है। जहाँ इस प्रक्रिया का अन्त आया, अर्थात् विनाश के पश्चात् नया उत्पाद न हुआ तो बस वही निर्वाण कहलाने लगा। लेकिन भद्र पुरुषो ! जब आत्मा की अगले क्षण में उत्पत्ति न हुई और पहले क्षण का विनाश हो गया तो मोक्ष किसका हुआ ? जब रोगी ही मर गया तो स्वास्थ्य लाभ किसे हुआ ? जब सुख का भोक्ता ही न रहा तो सुख होगा किसको ? बड़ी विचित्र कल्पना है !

जैन सिद्धान्त की मान्यता ऐसी नहीं है। जैन सिद्धान्त के अनुसार कर्मों का, विकारों का, बन्धनों का नाश होता है, किन्तु आत्मा का तो पूर्ण विकास ही होता है। कर्म रूप उपाधि के कारण आत्मा के जो स्वाभाविक गुण विकास नहीं पा रहे हैं, वे सब मुक्तावस्था में विकसित हो जाते हैं, क्योंकि उस अवस्था में आत्मा सब प्रकार की उपाधियों से मुक्त हो जाती है।

जब राग-द्वेष आदि विकारों का विकास होता है तो आत्मिक गुणों का ह्रास होता है और जब उनका ह्रास होता है तो आत्मगुण विकसित होते हैं। खेत में घास-फूस जितना अधिक उगेगा, खेती उतनी ही कम बढ़ेगी और घास-फूस की जितनी कमी होगी, पैदावार उतनी ही अधिक बढ़ेगी। यही कारण है कि खेत को उपजाऊ बनाने के लिए किसान निदाण करता है। वह कचरे को, घास-फूस को उखाड़ कर फैंक देता है। घास-फूस के साथ अगर वह सभी का निदाण कर दे तो खेत में से क्या पायेगा ? इसी प्रकार साधक आत्मा रूपी खेत में उगे हुए राग-द्वेष आदि के कचरे का उन्मूलन करता है। इस उन्मूलन के साथ यदि वह आत्मा रूपी धान्य को भी उखाड़ फैंके तो क्या पाएगा ? आत्मा का नाश होने पर शेष

क्या रह जाएगा ? मोक्ष का सुख किसे मिलेगा ? उस मोक्ष से लाभ क्या होगा ?

मामूली किसान भी इस वात को भली-भाँति समझता है कि सव का निर्वाण हो जाएगा तो प्रलय हो जाएगा। तो जहाँ मोक्ष पाने चले कि अपने आप को ही गँवा बैठे, यह क्या सिद्धि हुई ! काटना है आत्मा के विरोधी तत्वों को, घास-फूस को, न कि फसल को काट फैंकना चाहिए।

तो यह आत्मा का मोक्ष नहीं है। यह आत्मा का विकास नहीं, विनाश है। जब आत्मा का ही अभाव हो गया तो मोक्ष का आनन्द लेने वाला कोई रह ही नहीं जाता।

यह सब बातें सावधानी के साथ विचारने और मनन करने योग्य हैं। किन्तु जो लोग मतान्ध होते हैं, मत में दीवाने और पागल वन जाते हैं, वे अपनी पकड़ी हुई बात को छोड़ने के लिए तैयार नहीं होते। मूर्ख गधे की पूंछ पकड़ लेता है और गधा उसे दुलत्ती लगाता है, उससे उसके नाक, मुँह और हाड़-हाड़ टूट जाते हैं, फिर भी वह पकड़ी पूंछ को नहीं छोड़ता। इसी प्रकार विभिन्न मतों के प्रवर्तक जो भी अच्छी या बुरी बातें अपने अनुयाइयों के हृदय में घुसा देते हैं, वे उन्हें छोड़ने को तैयार नहीं होते। अच्छी बातें तो भला नहीं छोड़नी चाहिए, किन्तु वहुत वार लोग अपनी मान्यता की त्रुटियों को समझ कर भी उसे नहीं वदलते।

मगर इस विषय में मनुष्य को व्यापारी जैसी वृत्ति रखनी चाहिए। व्यापारी वहीं से माल खरीदता है, जहाँ उसे अच्छा और पड़ते का माल मिलता है। वह किसी एक दुकान से वंधा नहीं

होता। इसी प्रकार हमें चाहिए कि जहाँ से भी सत्य की प्राप्ति हो, उसे ग्रहण कर लें और उस से लाभ उठा लें।

तो यद्यपि चेतना और ज्ञान आत्मा के स्वरूप हैं और वे आत्मा की ही भाँति शाश्वत हैं, तथापि कई लोगों की मान्यता है कि जब तक चेतना और ज्ञान है तब तक आत्मा निर्वाण नहीं प्राप्त कर सकती।

ऐसी ही मान्यता वालों में एक अज्ञानवादी सम्प्रदाय है। उसके मन्तव्य के अनुसार ज्ञान ही बन्ध और दुःख का कारण है और ज्ञान का समूल नाश हो जाना ही निर्वाण है। वे अपने मन्तव्य की पुष्टि के लिए एक उदाहरण देते है। वह इस प्रकार है—

मान लीजिए एक दुधमुँहा बच्चा है। वह सोने-चांदी का नुकसान कर देता है तो भी दुःखी नहीं होता, क्योंकि उसे सोने-चांदी के महत्त्व एवं मूल्य का ज्ञान नहीं है। किन्तु कदाचित् उसे माता से जुदा कर दिया जाए तो दुःख होता है, क्योंकि उसे दूध पीने का ज्ञान है। इससे स्पष्ट है कि दुःख का कारण ज्ञान और दुःख से बचने का कारण अज्ञान है।

ज्यों-ज्यों बालक का ज्ञान बढ़ता जाता है और वह समझने लगता है कि यह मेरा भाई है, बहिन है, आदि-आदि, त्यों-त्यों उस का दुःख बढ़ता ही जाता है।

इस प्रकार जब ज्ञान की न्यूनता में दुःख की न्यूनता प्रत्यक्ष देखी जाती है तो सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि ज्ञान का पूर्णरूपेण नाश होने पर दुःख का भी पूरी तरह नाश हो जाता है।

जब चेतना ही न होगी तो दुःख या वेदना भी न होगी और निर्वाण की प्राप्ति हो जाएगी।

हमारा मन्तव्य इससे बिल्कुल विपरीत है। जैन शास्त्रों का कथन है कि ज्ञान का न होना ही दुःख है और ज्ञान का होना ही सुख है। ज्ञान से दुःख की उत्पत्ति बतलाना वास्तव में ज्ञान की परिभाषा को न समझने का परिणाम है। ज्ञान की दुनिया ही दूसरी है और जब तक उस दुनिया से परिचय नहीं हुआ है तभी तक उसे दुःखजनक समझा जाता है।

सच्चा ज्ञान वह है जो आत्मा में समभाव की जागृति करता है और मोह को हटाता है। ज्ञान की जैसे-जैसे वृद्धि होती जाती है, मोह भी वैसे ही वैसे हटता जाता है। जिन्हें वास्तविक विशुद्ध ज्ञान प्राप्त हो गया उन्होंने भयंकर से भयंकर यातनाओं में भी दुःख अनुभव नहीं किया, मुँह से एक बार उफ भी नहीं निकाल। इतिहास साक्षी है कि उनके सिर पर पोल बना कर दहकते हुए अंगार रख दिये गये, गन्ने की नाई घानी में पीस दिया गया, शरीर की खाल उतार ली गई, पाँवों पर खीर पका ली, कानों में कीलें ठोंक दी गई, फिर भी वे ज्ञानी पुरुष अपने आत्मानन्द में ही मगन रहे। विपदाओं के वज्रप्रहार भी उन्हें विचलित नहीं कर सके।

प्रश्न उपस्थित होता है—यह शक्ति और यह सहन-शीलता उन्हें किसने प्रदान की ? ज्ञान की ही अमोघ शक्ति से वे दिल को थर्रा देने वाली यातना को समभाव से सहन कर सके। अगर अज्ञानी होते तो वे रो-रो कर मरते और अपने ध्येय में सफलता न प्राप्त कर सकते।

तो मैं कह रहा था कि आत्मा चार गति में रहे या पाँचवीं गति मोक्ष में चला जाय, वह अजीव नहीं बन सकता, यह ध्रुव सत्य है। यही शुद्ध धर्म की विशेषता है।

जैन धर्म ने आत्मा की पूर्ण शुद्ध अवस्था की प्राप्ति को मोक्ष माना है। मोक्ष में आत्मा का शुद्ध अस्तित्व रहता है। अगर अस्तित्व मिट जाता होता तो ऐसे मोक्ष के लिए कौन बुद्धिमान् प्रयत्न करता ?

सांसारिक अवस्था में हमारी आत्मा कार्मणवर्गणा से घिरी रहती है। असातावेदनीय का ज़हर का प्याला उस कर्मवर्गणा का ही फल है। मगर उस प्याले को किसने दिया ? किसने उंडेला है ? सज्जनो ! उत्तर में कहना होगा कि विष के उस प्याले को हमने ही अमृत समझ कर पिया है और जब पी लिया तो वह अपना असर अवश्य दिखलायेगा। शिकारी शिकार खेलता है, चोर चोरी करता है, कसाई हिंसा करता है, तब वह समझता है कि मैं अमृत का प्याला पी रहा हूँ। मगर याद रक्खो, अमृत मान लेने मात्र से विष अमृत नहीं बन जायगा। विष हर हालत में विष ही रहेगा।

तो हमारी आत्मा में दुःख देने वाली जो कर्मवर्गणा पड़ी है, वही एक प्रकार की बीमारी—भीतरी बीमारी है और उसे हमारे सफल डाक्टरों ने पूरी तरह समझ लिया था। इसी से उन्होंने अन्दर और बाहर के कारणों को स्पष्ट रूप से बतला दिया है। वे दुख देने वाले कर्म कैसे आये ?

जिन्होंने दूसरों को रुलाया है उन्हें रोना पड़ेगा। जिन्होंने दूसरों को कलपाया है उन्हें कलपना पड़ेगा। जैसे-जैसे कर्म किये

हैं, उन्हें उसी प्रकार से भोगना पड़ेगा। दूसरों को जो सामान्य या विशेष रूप से दुःख देता है, उसे असातावेदनीय कर्म का बंध होता है और समय पाकर उसका उदय दुःख रूप होता है।

तो ज्ञानी पुरुषों ने कहा है कि जैसे आयुर्वेदविशारदों ने सब रोगों के मूल कारण तीन माने हैं—वात, पित्त और कफ; उसी प्रकार आत्मा के सब रोगों के भी तीन ही कारण हैं—राग, द्वेष और मिथ्यात्व। इन्हीं कारणों से जीव संसार में दुःख पा रहा है। जब तक ये तीनों दोष नष्ट नहीं हो जाते, तब तक आत्मा को शान्ति नहीं मिल सकती। मगर प्रथम तो इस राग का छूटना ही कठिन हो रहा है। इसमें मनुष्य ही नहीं, देवता भी उलझ रहे हैं। संसार में सर्वत्र राग का जाल फैला है। कामराग और भी प्रबल है। कैसी भयानक विडम्बना है इसकी !

एक गाँव में दो कुत्ते अलग-अलग मुहल्लों में रहते थे। अपने-अपने मुहल्ले की रखवाली करना उनका सहज भाव था। यों भी कुत्ता अत्यन्त स्वामीभक्त होता है। एक टुकड़ा दे देने वाले के प्रति भी वह वफादार रहता है। जब कि मनुष्य कई वर्षों तक मालिक का अन्न-पानी खाने पर भी, समय पर लोभ में आकर अथवा 'इस्लाम खतरे में है' ऐसा नारा सुन कर, बुढ़ापे की हालत में भी, अपने स्वामी को मौत के घाट उतारने में सकोच नहीं करता। उसका कर्त्तव्य तो यह है कि अपनी जान हथेली पर रख कर भी वह अपने शुभ चिंतक स्वामी की रक्षा करे, मगर वह इतना कृतघ्न हो जाता है कि उसके प्राण ले लेता है।

तो वे दोनों कुत्ते वफादारी के साथ अपने-अपने मुहल्ले की चोरों वगैरह से रक्षा करते थे। उनमें सब से बड़ा दुर्गुण याद था तो

यह कि उनका कोई सजातीय कुत्ता आ जाता तो उसे घुर्रा कर और लड़ झगड़ कर वे फौरन निकाल देते थे। वे समझते थे कि यदि यह यहाँ रह गया तो मेरी प्राप्ति में हिस्सा बँटा लेगा।

खैर, कुत्तों का स्वजाति द्वेष तो प्रसिद्ध ही है, किन्तु सज्जनो! अफसोस तो इस वात का है कि यह वीमारी, यह दुर्गुण मनुष्य में भी वहुतायत से पाया जाता है। मनुष्य अपनी कमाई के राज़, कला के राज़, विद्या के राज़, भी दूसरों को नहीं वतलाना चाहता। वह इस प्रकार की पत्रव्यवहार आदि सामग्री को वड़ी सँभाल के साथ तिजोरी में रखता है, ताकि दूसरे व्यापारी को माल मँगाने का पता और भाव वगैरह का पता न चल जाय, अन्यथा मेरी कमाई का साधन खतरे में पड़ जायगा। जब वाहर माल लेने जाता है तो वड़े गुप्त रूप में जाता है और यहाँ तक की पैरों की आहट की संभावना हो तो जूते भी हाथ में ले लेता है। परन्तु किसी को मालूम नहीं होने देता।

एक जगह दो भाई रहते थे। दोनों सराफी का व्यापार करते थे। एक दिन एक भाई ने जल्दी उठ कर वाहर से माल लाने के लिए राजमार्ग छोड़ कर सीधा खेतों का रास्ता लिया, यह सोच कर कि कोई मुझे देख न ले। पर रास्ते में किसी ने पूछ ही लिया—कहाँ जा रहे हो? उसने असलियत छिपा कर कहा—एक गाँव में मौत हो गई है। वहाँ वैठने के लिए जा रहा हूँ।

सज्जनो! इस लोभ के कारण मनुष्य को कितना झूठ वोलना पड़ता है! कितना जाल रचना पड़ता है और कितना धोखा देना पड़ता है!

वह सोचता था कि किसी को मेरे माल लाने का पता चल गया तो दूसरा भी कोई माल लेने पहुँच जायगा और मेरा विक्री में बाधा पड़ जायगी। मेरी कमाई मारी जायगी। अतएव उसे न बोलने योग्य झूठ का सहारा लेना पड़ा। किन्तु अरे क्षुद्र हृदय ! जहाँ दो दुकानदार होते हैं, वहाँ दोनों कमाते हैं। बम्बई, दिल्ली जैसे नगरों में हजारों लाखों दुकानदार हैं सभी अपने-अपने भाग्य के अनुसार कमाते-खाते हैं। आखिर तो सब भाग्य अपने-अपने साथ है। कौन किसका भाग्य वदल सकता है ? किन्तु क्या किया जाय ? आदत से लाचार जो हैं। इसी कारण तो यह श्वानवृत्ति दुःखी कर रही है।

संसार में पदार्थों की कमी नहीं है, किन्तु ऐ मनुष्य, तेरे सन्तोप की कमी है। अगर सन्तोप के साथ पदार्थों का भोगोपभोग किया जाय तो संसार में कोई भी भूखा, नंगा और बेघरवार नहीं रह सकता। मगर सन्तोष हो तभी तो यह वात वने।

तो उन दोनों कुत्तों में एक वड़ा मोटा-ताज़ा था। वह अपनी हिम्मत से और बल से दूसरे कुत्तों से लड़-झगड़ कर और हिस्सा वँटा कर अपनी पोल में आ जाता था। दूसरा दुवला-पतला और कमज़ोर होने से अपना ही पोल में पड़ा रहता और बाहर कहीं नहीं जाता था। उसे मुहल्ला वाला कोई टुकड़ा दे देता और कोई नहीं भी देता था।

तो मोटा ताज़ा मस्त हो गया और दूसरा सूखा हुआ रह गया। एक दिन दोनों का मिलाप हो गया तो मस्तराम ने उस कृशकाय तपस्वीराज से पूछा—तू तो आजकल वहुत कमजोर हो रहा है। क्या कारण है ?

कृशकाय ने कहा—यार क्या बतलाऊँ, अपने कर्मों के भोग भोग रहा हूँ। प्रथम तो डर के मारे निकला ही नहीं जाता। कदाचित् निकलता भी हूँ तो लोग डंडे मारते हैं। इसलिए अपनी पोल में ही भूखा-प्यासा पड़ा रहता हूँ। मगर तुम तो खूब तगड़े हो रहे हो!

मस्तराम ने कहा—हाँ, मैं मुहल्ले से बाहर भी निकल जाता हूँ और खूब खाता हूँ। मगर तू यहीं क्यों पड़ा रहता है? कल से मेरे साथ चला कर। इसी मुहल्ले से हमें क्या लेना-देना है? आपन तो विना झोली के फकीर हैं। चारों दिशाओं में अपनी जागीर है। तू मेरे मुहल्ले में आ जा, फिर देखना कितनी जल्दी खा-पीकर मस्त हो जाता है।

कृशकाय—तुम्हारी वात तो ठीक है, किन्तु मैं उम्मीदवार हूँ और आज-कल में सफलता मिलने की संभावना है। मुझे वह घड़ी आनन्द की मिलने ही वाली है। चिन्ता यही है कि मेरे इधर-उधर जाने से वह घड़ी निकल न जाय।

मस्तराम—अच्छा, हमें भी तो बतलाओ कि वह घड़ी कौन-सी है जिसका इतना इन्तजार कर रहे हो?

कृशकाय—मेरे मुहल्ले की दो औरतें वड़ी लड़ाकू हैं। वे सवेरे ही सवेरे पूरा लेटरबोक्स भर कर तैयार हो जाती हैं और आमने-सामने गोली चलाने लगती हैं। एक कहती है—रांड: मेरा नाम नहीं जो तुझे कालिये के साथ न व्याह दूँ। उस कुत्ते को काला होने से लोग कालिया के नाम से पुकारते थे। इसके उत्तर में दूसरी कहती है— रांड, तू ने मुझे क्या समझ रक्खा है? मैं असली वाप की नहीं अगर तुझको ही कालिये के साथ न व्याह दिया।

जब वे ऐसा कहती हैं और मेरा नाम लेती हैं तो मैं बाग-बाग हो जाता हूँ और सोचता हूँ—कभी न कभी तो मेरा ही कुंआरापन दूर होगा और मुझे भी दुःख-दर्द में सहारा मिलेगा। यही आशा लिये मैं भूख-प्यास का कष्ट उठाता हुआ भी इसी पोल में अर्थात् मुहल्ले क दरवाजे में पड़ा रहता हूँ।

सज्जनो ! इसे कहते हैं कामराग ! मरियल कुत्ता भी क्या आशा लगाये रहता है। मगर कुत्ता जैसा अविवेकी जीव ऐसा विचार करे तो हमें अफसोस नहीं है, क्योंकि आखिर वह पशु है, मगर अफसोस है उन धोलियों के लिए—सफेदपोशों के लिए ! मानव तो धोला है—उज्ज्वल है और उसका जीवन निखरा हुआ है, परिमार्जित है और उसके दिल-दिमाग में हिताहित को समझने की शक्ति है। किन्तु अफसोस ! वे भी उस कुत्ते के समान ही विचारों में बहते रहते हैं।

तुमने कुत्ते को तो मूर्ख समझ लिया, किन्तु वह मूर्ख है तो आखिर कुत्ता ही तो है। वह भी रागभाव में कहता है कि मेरा भी कुंआरापन मिट जायगा। मगर उसका कुंआरापन मिटने वाला नहीं है।

अरे दुनिया के लोगो ! जैसे वह कुत्ता आशा ही आशा में सूख कर मर गया और पोल नहीं छोड़ सका, क्या इसी प्रकार तुम भी आशा ही आशा में अपनी जिंदगी पूरी नहीं कर रहे हो ? जिसका विवाह नहीं हुआ, वह विवाह करना चाहता है, विवाहित सन्तान के लिए तड़फ रहा है और सन्तान वाला पैसे के लिए मरा जा रहा है। लखपति करोड़पति बनने के मंसूबे करके पच रहा है

तो करोड़पति अरबपति बनने के स्वप्न देख रहा है। इस प्रकार सब लोग अपनी-अपनी उधेड़-बुन में लगे हैं और आशा के दास बन कर जीवन को बर्बाद कर रहे हैं। राग के वशीभूत होकर मनुष्य निन्दनीय से निन्दनीय पापकृत्य करने में भी संकोच नहीं करता। पाप करते समय तो कुछ जोर नहीं पड़ता, मगर उनका फल भोगते समय नानी याद आ जाती है।

अभिप्राय यह है कि राग, द्वेष और मिथ्यात्व की यह त्रिपुटी इस आत्मा को दुखी बना रही है। रत्नत्रय को धारण करके जो इन दोषों का त्याग करते हैं और अपनी आत्मा को शुद्ध बनाते हैं, वे संसार-समुद्र से पार हो जाते हैं।

ब्यावर
१८—१०—५६

शिवरमणी का सम्मिलन

उपस्थित महानुभावो !

दो तीन दिनों से जो विषय चल रहा है, वह बड़ा मार्मिक है, हृदयस्पर्शी है और आत्मिक वोध उत्पन्न करने वाला तथा सूक्ष्म है। यदि हम उसे भली-भाँति समझ लेते हैं और तदनुसार जो करना चाहिए वह कर डालते हैं तो आत्मा कृतकृत्य हो जाती है और फिर उसे कुछ भी करना शेष नहीं रहता।

किन्तु इतना सब कुछ सुनते हुए, समझते हुए और समझने के लिए दिमाग पर जोर देते हुए भी सुनी हुई बातों को जीवन में ढालने का जो प्रयत्न करना चाहिए, वह नहीं किया जाता और इसी कारण आत्मा का उत्थान नहीं होता—जीवन का उल्लेखनीय विकास नहीं हो पाता।

आपने अपने मकान में मेज के ऊपर ३६ प्रकार के सुन्दर स्वादिष्ट भोजन सजा दिये। सब पदार्थ अत्युत्तम हैं, आस्वादन करने योग्य हैं और भूख भी आपको लग रही है, खाने के लिए जीभ भी लपलपा रही है; मगर उन्हें सजा देने मात्र से उद्देश्य की पूर्ति कैसे हो सकती है ? इतने मात्र से क्षुधानिवृत्ति नहीं हो सकती और रसना देवी की तृप्ति भी नहीं हो सकती। इसके लिए तो आपको उन पदार्थों का उपभोग करना पड़ेगा। खाने से ही भोजन का आनंद प्राप्त होगा।

इसी प्रकार आपको नवीन से नवीन, उत्तम से उत्तम, सु-संस्कारित विचार मिल रहे हैं। सर्वज्ञ और वीतराग की परम कल्याणी वाणी श्रवण करने और मनन करने का सौभाग्य प्राप्त हो रहा है। वे विचार आपके लिए अत्यन्त हितकर हैं, आत्मिक गुणों का पोषण करने वाले हैं, आत्मा के लिए महान् से महान् वरदान रूप हैं। आनन्द देने वाले हैं। सुधा के समान मधुर हैं। किन्तु आप उनका व्यवहार न करें, उन्हें अपने जीवन में व्यवहृत न करें, उनके अनुसार आचरण न करें तो वे वचन आपके आनन्द की पूर्ति किस प्रकार कर सकते हैं ?

जब मनुष्य के शरीर में किसी प्रकार की व्याधि हो जाती है, जठराग्नि की मन्दता हो जाती है और मुँह का जायका बिगड़ जाता है तो मधुर से मधुर पदार्थ भी उससे खाये नहीं जाते, उसे रुचिकर नहीं लगते और कदाचित् खा लेता है तो अजीर्ण हो जाता है। इसी प्रकार मोहग्रस्त जीव प्रथम तो जिनवाणी को सुनने के लिए, उसका रसास्वादन करने के लिए तैयार ही नहीं होता और यदि किसी प्रकार सौभाग्य से किसी महात्मा के मुखारविन्द से जिनवचन सुनने को मिल गये तो वह अभागा सुन कर भी लाभ नहीं उठाता, अपने जीवन में नहीं उतारता। और जब तक सुनी हुई चीज आत्मा में अन्तरंग रूप धारण नहीं कर लेती—जीवन में एकरस नहीं हो जाती —तब तक आत्मा का उत्थान नहीं हो सकता।

तो इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न करने वाले आत्मा के प्रधान शत्रु तीन हैं—राग, द्वेष और मिथ्यात्व। इन तीनों दोषों के कारण आत्मा अनादिकाल से जगत् के जंजाल में फँसा है, जन्म-मरण के चक्कर में पड़ा है और विविध प्रकार की व्यथाएँ सहन कर रहा है।

ये डाकू आत्मा के धन को बराबर लूटते चले आ रहे हैं और अपने पंजे से नहीं निकलने देते। बड़ी मुश्किल से यह जीव जो घर का मालिक है येन केन प्रकारेण कुछ तप जप रूप धर्म क्रियाएँ कर धर्म धन का संचय करता है किन्तु ये डाकू एक दिन में क्या एक घण्टे में ही नहीं क्षण भर में लट कर निर्धन बना देते हैं और आत्मा फिर कंगाल हो जाता है।

सज्जनो कइयों को तो कमाई का सौभाग्य ही प्राप्त नहीं होता और वे ग्राहकों की तरफ देखते ही रह जाते हैं और ग्राहक दूसरी दुकान पर चले जाते हैं। किन्तु जिनका लाभान्तराय कर्म टूट गया है, ग्राहक विना बुलाए ही उनके पास चले जाते हैं; और लाभान्तराय का उदय होने पर ग्राहकों के आ जाने पर भी सौदा नहीं पटता है। इस प्रकार दुकानदार बड़ी मुश्किल से कमाता है, पेट काट कर जोड़ता है और डाकू दिन दहाड़े छाती पर बैठ कर सब धन ले जाते हैं।

इसी प्रकार प्रथम तो चारित्र मोहोदय से व्रतादि करने की रुचि ही उत्पन्न नहीं होती यदि कहीं चारित्र मोहोदय के क्षयोपसम भाव से जीव कुछ करनी करता है और जप, तप, संयम, व्रत, नियम की पूंजी जोड़ता है तो मिथ्यादर्शनादि डाकू दिन दहाड़े आकर अज्ञान के थपेड़ों से मारपीट करके उसकी धर्मकरणी को लूट कर ले जाते हैं और यह जीव बेचारा आत्मधन से निर्धन हो कर क्षत-विक्षत जीवन व्यतीत करता है। चौरासी के फेरे में—आवागमन के चक्कर में फँस जाता है।

चोर रात को और छिप कर आते हैं किन्तु डाकू तो ऐलान करके, सूचना देकर, इश्तिहार भेज कर आते हैं। तो डाकुओं में

इतना दुस्साहस होता है क्योंकि वे अपनी जान हथेली पर रख कर निकल पड़े हैं। उनका हृदय क्रूर और पत्थर का वन गया है। वे पुलिस की और सरकार की भी परवाह नहीं करते। इन डाकुओं ने आजकल भारत सरकार का भी नाक में दम कर रक्खा है। इसीलिए उन्हें पकड़ने के लिए विशेप रूप से पुलिस तैयार की जा रही है और मिलिटरी को भी विशेष ट्रेनिंग दी जा रही है। परन्तु जब पुलिस अफसर घोषणा करता है कि डाकुओं का इतने दिनों में सफाया कर दिया जाएगा तो उसका विपरीत परिणाम यह होता है कि डाकू अपनी चालाकी से पुलिस-अफसर के ही परिवार को मौत के घाट उतार देते हैं।

तो यह दशा है आजकल के दस्युओं की ! जिस सरकार के पास सभी तरह के शस्त्र हैं, साधन हैं और प्रचण्ड शक्ति है उसे भी डाकुओं ने उलझन में डाल रक्खा है। तो मामूली निहत्थे आदमी को लूट लेना उनके लिए क्या बड़ी बात है ?

अर्थात् जिन महापुरुषों के पास प्रचुर मात्रा में ज्ञान विवेकादि अस्त्र-शस्त्र थे रागादि आत्मशत्रु ने उन्हें भी लूट लिया तो जिस जीव के पास ज्ञान-विज्ञान के शस्त्र अधिक नहीं हैं, उसे तो मिथ्या-त्वादि डाकू अनायास ही लूट लेते हैं, और डाकू इतने पक्के होशि-यार होते हैं, वे कहते हैं कि हमें तो पूरे गिन कर दो, कहीं कम न रह जाएँ।

तो इन राग, द्वेष और मिथ्यादर्शन रूपी डाकुओं ने बड़े-बड़े ऋषियों-मुनियों के भी सिंहासन क्षण भर में हिला दिये हैं, जिनको अपने अनुष्ठानों और क्रियाओं पर बड़ा अभिमान था और बड़े विश्वास के साथ जो संन्यास के क्षेत्र में आए थे और कहते थे—हम आत्मा के डाकुओं को नेस्तनाबूद कर देंगे।

सज्जनो ! संसार में वहादुरी का दम भरने वाले तो वहुत हैं, किन्तु मौके पर मुकाविले में आने वाले विरले ही होते हैं। शिशुपाल वड़ा अहंकारी था और अपने को वड़ा भारी वीर योद्धा मानता था, मगर उसका अभिमान तभी तक कायम रहा, तभी तक शान वघार सका जव तक कि श्रीकृष्ण महाराज का संग्रामी रथ मैदान में नहीं आया। वह गरज कर कहता था—कौन है मेरी माँग को ले जाने जाने वाला—रुक्मिणी के साथ विवाह करने वाला, किन्तु जव कृष्ण महाराज आ धमके और रुक्मिणी को ले गये तो शिशुपाल को रण में परास्त ही नहीं होना पड़ा, वरन् अपने प्राणों से भी हाथ धोने पड़े।

शिशुपाल के साथ रुक्मिणी का विवाह होना तय हो गया और तिथि नियत करके शिशुपाल के पास भेज दी गई तो शिशुपाल अपनी शादी की तैयारियाँ करने लगा। इधर नारद वावा को घूमते-घामते पता चला कि रुक्मिणी का विवाह शिशुपाल के साथ करना तय हो गया है, पर रुक्मिणी उसे नहीं चाहती और उसने कृष्ण को ही मन में पति रूप से वरण कर लिया है। तो नारद वावा को तो आप अच्छी तरह जानते हैं। वे विगड़ी को वनाने में और वनी को विगाड़ने में सिद्धहस्त थे। उसी समय वे कृष्ण जी के महल में जा पहुँचे।

कृष्ण महाराज ने नारद वावा का आदर-सत्कार करके उच्चासन पर आसीन किया और आगमन का कारण पूछा तो नारद जी ने फौरन ही अपनी झोली में से रुक्मिणी का फोटो निकाल कर दिखा दिया और कहा- तुम इतनी रानियाँ लिये बैठे हो, किन्तु इस की सुन्दरता के सामने वे सव भेड़-वकरियाँ हैं। इसके आगे सव पानी

भरने वाली हैं। अरे, तुम किस खूबसूरती पर नाज़ कर रहे हो? तनिक इसकी ओर दृष्टि डालो। इस अनिंद्य सुन्दरी तरुणी के लावण्य को स्वयं विधाता ने अपने हाथों से सजाया है और बड़े मनोयोग से घड़ कर तैयार किया है नमूने के रूप में। इस सुन्दरी का मुकाबिला करने वाली तुम्हारे रनिवास में एक भी रानी नहीं है।

रुक्मिणी का चित्र देखा तो कृष्ण महाराज के दिल में भी हलचल मच गई। उस अपूर्व सौंदर्य को देख कर वे मुग्ध हो गये। तब उन्होंने कहा—बाबा, तारीफ ही तारीफ करते रहोगे या नाम-धाम भी बतलाओगे? विधाता की इस अद्भुत असाधारण रचना को कोई संज्ञा भी मिली होगी और उस का कोई बाह्य जगत् में स्थान भी तो होगा।

नारद जी सन्तोष के साथ बोले—महाराज, मैं खाली हाथ नहीं आया हूँ। नाम-धाम सब बतलाऊँगा। यह कुमारी रुक्मिणी हृदय से आपका वरण कर चुकी है, और आप से मिलने के लिए विह्वल हो रही है। मगर तत्त्व की बात तो यह है कि यदि रुक्मिणी आपको प्रिय हो तो सारी रामायण सुनाने की सार्थकता है, अन्यथा मेरी बात मेरे पास रही।

कृष्ण जी ने कहा—रुक्मिणी का यह चित्र और आपका खींचा हुआ शब्दचित्र देख-सुन कर मैं उससे विवाह करने को आतुर हो गया हूँ। और हर तरह से उसे ग्रहण करने में अपना सौभाग्य समझूंगा।

नारद—तो रुक्मिणी आपको अवश्य प्राप्त होगी, मगर कच्चे पैरों से नहीं प्राप्त होगी। उसे प्राप्त करना शेर की मूँछ का बाल

उखाड़ना है और सांप के मत्थे की मणी लेना है। अतएव या तो प्रयास करना ही नहीं और प्रयास करो तो पूरी-पूरी तैयारी के साथ आना।

नारद जी कृष्ण महाराज को पूरा पता-ठिकाना बता कर और तिथि तथा समय निश्चित करके विदा हुए और सीधे शिशुपाल के महल में जा पहुँचे। शिशुपाल ने भी बाबा जी का बहुत मान किया और योग्य आसन पर बिठलाया। तत्पश्चात् नारद जी इधर-उधर नजर फेर कर और सब कुछ जानते हुए भी अनजान बन कर बोले—महाराज, आज यह रंगरेलियाँ क्यों हो रही हैं ? शहनाइयों के बजने का क्या प्रसंग है ? आज सारी नगरी जैसे उत्सवमय हो रही है। यह सब किस उत्सव की आयोजना है ?

शिशुपाल ने धीमी मुस्कराहट के साथ कहा - बाबा जी, आप से क्या छिपा है ! सब कुछ जान कर भी आप अनजान बन रहे हैं !

तब नारद जी को जैसे अचानक स्मरण हो आया हो, वे बोले—अच्छा अच्छा, समझा। रुक्मिणी के साथ आपका विवाह होने वाला है। मगर याद रहता तो कैसे रहता, तुमने मुझे निमंत्रण भी तो नहीं दिया है।

शिशुपाल - बाबा जी आप तो बिना निमन्त्रण ही जीमने वालों में से हैं।

नारद —बड़े हर्ष की बात है। चलो, बाई जो हमारी भी सेवा किया करेंगी। मगर टेवा तो दिखला दिया होता मुझे।

शिशुपाल ने उसी समय टेवा मँगवा कर नारद जी के हाथों में दिया। उसे देख कर और मीन-मेष-मकर की गणना करके वे सिर हिलाने लगे। उनके चेहरे पर असाधारण गम्भीरता आ गई।

नारद जी की भावभंगी देख कर शिशुपाल का कलेजा काँप गया। उसने पूछा—बाबा जी, इतनी गम्भीरता कैसे आ गई वदन पर? क्या कारण है?

नारद—और ग्रह तो सब ठीकठाक हैं, मगर एक ग्रह ऐसा पड़ा है जिससे सम्भावना होती है कि कहीं यह मांग दूसरे की न हो जाय। आखिर कर्मों के आगे तो ब्रह्मा को भी हार माननी पड़ती है।

इसके बाद शिशुपाल ज्यों-ज्यों अधिक पूछता गया और गहराई में उतरता गया, नारद जी और पलीता लगाते गये। आखिर शिशुपाल ने अपने उद्दण्ड दर्प के साथ कहा—देखो बाबा जी, ग्रह कुछ भी कहें और आप कुछ भी कहें, मैं यह कहता हूँ कि क्षत्रियों की मांग को दूसरा ले जाने वाला जन्मा ही नहीं है। क्या आप मेरे भुजबल से अपरिचित हैं? समरभूमि में कौन मेरे सामने टिक सकता है? मेरी माँग को ले जाना तो दूर रहा, उसकी ओर आंख उठाने की भी हिम्मत कोई नहीं कर सकता। अगर करेगा तो अपनी करनी का फल भोगेगा।

शिशुपाल शेखी बघारने में एक ही था। वह कब तक शेखी बघारता था? जब तक श्रीकृष्ण का रथ नहीं आया और जब रथ आ गया और उन्होंने पांचजन्य शंख फूंका तो उसकी सेना का तिहाई भाग तो उस आवाज को सुन कर ही पलायन कर गया। जब वह रथ घूमने लगा और उसकी पुतलियाँ घूमने लगीं, क्योंकि वासुदेव की

सेवा में हजारों देव उपस्थित रहते हैं; तब तो शिशुपाल का हौंसला ही टूट गया। सारा उत्साह ठंडा पड़ गया। कृष्ण महाराज रुक्मिणी को रथ में बिठला कर चल दिये।

यह हाल देखा तो नारद बाबा को सन्तोष नहीं हुआ। पूरा मज़ा नहीं आया। अतएव तत्काल उन्होंने अपना जाल फैलाना आरंभ कर दिया। वे फौरन कृष्ण जी के पास पहुँचे और बोले—कृष्ण जी, यह काम तो चोरों का सा है और यह बात आप जैसे शूरवीर को शोभा नहीं देती। आपको वीरता प्रदर्शित करनी चाहिए।

फिर शिशुपाल के पास जा कर बोले—बस, निराश हो गये! इसी बलबूते पर शेखी मारते थे? क्या वीरों का यही धर्म है कि अपनी आँखों के सामने ही अपनी माँग को यों लुट जाने दे! असली क्षत्रिय प्राणों की परवाह न करके अपनी माँग को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। तुम तो निराश और हताश होकर ही रह गये!

इस प्रकार दोनों के वीरत्व को जगा कर नारद जी तमाशा देखने लगे। दोनों ओर की सेनाएँ आमने-सामने हुई और समरक्षेत्र तैयार हो गया। मगर महाबली वासुदेव के मुकाबिले में कौन ठहर सकता है? किसकी माँ ने सवा सेर सोंठ खाई है जो उनका सामना कर सके? उन्हें 'युद्धशूर' विशेषण दिया गया है। यों तो चक्रवर्त्ती छह खण्ड का स्वामी होता है और वासुदेव तीन खण्ड का अधिपति, किन्तु युद्ध करने में जैसा सफल और कुशल योद्धा वासुदेव होता है वैसा चक्रवर्त्ती नहीं होता। चक्रवर्त्ती के सेना और युद्ध सम्बन्धी सब कार्य सेनापति के जिम्मे होते हैं, किन्तु वासुदेव स्वयं युद्धक्षेत्र में आकर अपने हाथ दिखलाता है।

तो शिशुपाल पूरे जोश के साथ चढ़ कर आया किन्तु शीघ्र ही उसके हौंसले नष्ट हो गये और दो मिनट भी वह कृष्ण जी के सामने न टिक सका।

सूपगडांग में वतलाया गया है कि कोई-कोई मनुष्य न्यायक्षेत्र में वड़ी उत्क्रान्त भावना लेकर निकलते हैं। वे राजपाट, ऐश्वर्य और सुखसामग्री को इस प्रकार त्याग देते हैं जैसे कोई नाक के मैल को त्याग देता है और साधु वन जाते हैं, इस दृढ़ निश्चय के साथ कि हम आत्मा के विरोधी तत्त्वों को, राग-द्वेष को नष्ट कर देंगे, जड़ से उखाड़ कर फेंक देंगे, मूलोच्छेदन कर देंगे और फिर वे सिर भी न उठा सकेंगे। इस प्रकार उनके स्वाभिमान का कोई ठिकाना नहीं होता। किन्तु शिशुपाल जैसा उनका यह अभिमान तभी तक ठहरता है जब तक कृष्ण की तरह वाईस प्रकार के परीपह उनके सामने नहीं आते। वे तभी तक साधु वन कर गरजते हैं। तभी तक उनका साहस टिकता है जव तक राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह, पाँच इन्द्रियों के २३ विषय और २४० विकार और १४८ कर्मप्रक्रुत्तियाँ तथा १३०० प्रकार के क्रोध, १३०० प्रकार का मान, १३०० प्रकार की माया-कपटाई और १३०० प्रकार का लोभ, यह कषाय की जवर्दस्त विशाल सेना उनके मुकाविले के लिए नहीं आती।

मगर इस समग्र सेना के साथ मोह रूपी कृष्ण का जब शंखनाद होता है तो वड़े-वड़े वीर साधक-योद्धा रणस्थल को छोड़ कर भाग जाते हैं। इनका सामना करके विजय प्राप्त करना सव के वूते का काम नहीं।

रणविजयी सच्चा विजयी नहीं होता। सच्चा शूरवीर तो वही होता है जो इन्द्रियों को काबू में करता है। दूसरे शत्रुओं को जीत लेना कोई मुश्किल नहीं है, इन्द्रियों को जीत लेना ही कठिन है। शास्त्र में कहा है—

> एगे जिए जिया पंच, पंच जिए जिया दस।
> दसहा उ जिणित्ताणं, सव्वसत्तू जिणामहं ॥

अर्थात् जिसने एक को जीत लिया, उसने पाँचों को जीत लिया, जिसने पाँच को जीत लिया उसने दसों को जीत लिया और जिसने दस पर विजय प्राप्त कर ली, उसने सभी शत्रुओं को जीत लिया।

तो यहाँ दुश्मनों को जीतने का तरीका बतलाया गया है। लड़ाई लड़ने के भी कई ढंग होते हैं। सेना अगर बाकायदा ट्रेनिंग लेकर लड़ती है तो शत्रुओं की दाल नहीं गल पाती और शीघ्र विजय प्राप्त कर लेती है। किन्तु यदि अशिक्षित रंगरूटों को युद्धभूमि में उतार दिया जाता है तो वे स्वयं भी मर जाते हैं और उन्हें पराजय का भी मुख देखना पड़ता है। जो लड़ाई का तरीका जानता है वही सफाई के साथ दुश्मन को पछाड़ सकता है और विजय प्राप्त कर सकता है।

तो यहाँ कहा गया है कि उस एक को सर्वप्रथम जीत लो जो सब के हौंसले बढ़ा रहा है। उसे जीतने से पाँच वश में हो जाएँगे और जब पाँचों पर विजय प्राप्त हो जाएगी तो दस को भी जीत सकोगे और जिसने दस को जीत लिया, समझ लो कि उसने सभी शत्रुओं को जीत लिया। वह विश्वविजयी कहलाने लगता है।

प्रश्न होता है—वह एक, पाँच और दस क्या हैं, जिन्हें जीतना आवश्यक है ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि कर्मबंध का प्रधान कारण और इन्द्रियों को इधर-उधर भटकाने तथा कुपथ में ले जाने वाला एक मन ही है। अतएव जिसने एक मन को जीत लिया उसने क्रोध, मान माया और लोभ सहित पाँच पर विजय प्राप्त कर ली, क्योंकि यह सब मनीराम जी के ही परम मित्र हैं।

क्रोध कब आता है ? मन में कोई इच्छा उत्पन्न होती है और उसकी पूर्ति नहीं होती तो तत्काल क्रोध का आवेश उत्पन्न हो जाता है। जिसे क्रोध उत्पन्न हुआ है, उसमें यदि शक्ति है तो वह मान, में भी आ जाएगा और कहेगा—मैं इसे देख लूँगा, जीत लूँगा, मैं उससे कम नहीं हूँ।

जब किसी वस्तु के विषय में प्रलोभन उत्पन्न होता है तो लोभ का आविर्भाव हो जाता है और जब वह वस्तु सीधी तरह प्राप्त नहीं होती तो माया का सेवन करना पड़ता है। इस प्रकार मन में जब वस्तु की माँग होती है, तभी क्रोध, मान, माया और लोभ को एक दूसरे के पश्चात् हमला करने का अवसर मिलता है।

इस प्रकार मन ही इन कषायों को भड़काने वाला है और सब को आज्ञा देने वाला है। मन आज्ञा ही न दे तो वे आगे काम ही नहीं कर सकते। अतएव सब को संचालित करने वाले सेनापति मनीराम को अगर पहले जीत लिया जाए तो इसके चार घनिष्ठ मित्र भी सहज ही जीते जा सकते हैं, क्योंकि चारों कषायों का प्रयोग मन की तुष्टि के लिए ही किया जाता है।

कषायों को जीत लेने पर इन्द्रियों की माँग ही समाप्त हो जाती है। इन्द्रियों के विकार भी नष्ट हो जाते हैं। राजा की आज्ञा पहले मन्त्रियों के पास और फिर छोटे अफसरों के पास जाती है। राजा आज्ञा ही न दे तो उसके अग्रसर होने का भी प्रश्न उपस्थित नहीं होता। मन रूपी राजा को जीत लेने पर कषाय-मन्त्री भी वश में हो जाते हैं और फिर इन्द्रियाँ छोटे अफसरों की तरह स्वतः वशीभूत हो जाती हैं। इन्हें जीत लिया तो सभी शत्रुओं पर विजय प्राप्त हो जाती है। किन्तु इस एक (मन) को जीत लेना ही कठिन है। आप सामायिक करते हैं, प्रतिक्रमण करते हैं और ध्यान करते हैं, मगर मनीराम जी इधर-उधर उड़ानें भरते रहते हैं। जब आत्मचिंतन करने बैठे कि इस मन ने गड़बड़ करना शुरु किया। साधारण सन्त भी इसे एकनिष्ठ नहीं कर पाते तो अन्य लोगों का तो कहना ही क्या है? मन को और कषायों को जीतना किसी श्रेष्ठ वीर का ही काम है। मन ने बड़े-बड़े योगियों को भी चलायमान कर दिया है। जैसे शिशुपाल जोर से गर्जना कर रहा था, किन्तु कृष्ण के आने के बाद उसके सब अस्त्रशस्त्र ढीले पड़ गये, इसी प्रकार मन के तूफान के सामने योगी भी हार मान बैठे।

मोह के आगे सब के आसन हिल जाते हैं। इसका हमला होने पर कायर लोग झोली-झंडा लेकर भाग खड़े होते हैं। अतएव मोह को जीतना बड़ा ही मुश्किल है। ये राग और द्वेष दो पहलवान मोह रूपी पिता के पुत्र हैं और इन्होंने बड़े-बड़े सूरमाओं का गर्व खर्व किया है। कोई विरला ही योद्धा इन्हें जीतने में समर्थ होता है।

जिनके पास ज्ञान-ध्यान के शस्त्रास्त्र नहीं होते, उन्हें ये चुटकियों में ही निर्दिष्ट पथ से विचलित कर देते हैं। इनकी प्रचण्डता

तो इसी से प्रतीत हो जाती है कि जिनको अनेक पूर्वो का ज्ञान प्राप्त था जो अनेक प्रकार की ऋद्धियों से सम्पन्न थे और जो समर्थ एवं शक्तिशाली थे, उन पर भी राग, द्वेष और मिथ्यात्व ने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया और क्षण भर में उनके भी आसन हिला दिये। वे धराशायी हो गए। परास्त हो गए।

भद्र पुरुषो ! जैसे भूकम्प आने से हजारों मकान धराशायी हो जाते हैं, उसी प्रकार जब मोहनीय कर्म का जलजला आता है तो बड़े-बड़े योगिराज, जो पर्वत की भाँति अडोल, अकम्प प्रतीत होते थे उलट-पुलट हो जाते हैं। अतएव मोहनीय कर्म को जीतना कोई बच्चों का खेल नहीं है। इसे विरले वीर ही जीत पाते हैं। इस प्रकार राग, द्वेष, और मिथ्यादर्शन, ये तीनों ही जबर्दस्त पहलवान हैं।

सच तो यह है कि जब तक नाशवान भौतिक पदार्थों के प्रति हमारा रागभाव है, आकर्षण है, आसक्ति है, तब तक हम आत्माभिमुख नहीं बन सकते। तब तक हमारी दृष्टि बहिर्दृष्टि ही रहेगी, अन्तर्दृष्टि नहीं बन सकेगी और जब तक हम आत्माभिमुख नहीं बनेंगे तब तक विकारों पर विजय पाना सम्भव नहीं है। आज रागी पुरुष नहीं करने योग्य कार्य भी बिना हिचक के कर डालते हैं। राग के वशीभूत होकर एक को ऊँचा चढ़ाने के लिए दूसरों को नीचा दिखाते हैं और कलंक लगाने को भी तैयार हो जाते हैं। राग से प्रेरित संसार के प्राणी परम पीड़ा पा रहे हैं और कितने तो प्राणों से भी हाथ धो बैठते हैं।

सज्जनो ! हाथी स्पर्शनेन्द्रिय के विकार के वशीभूत होकर गड्ढे में फँस जाता है। वह रागान्ध होकर कागज की हथिनी को

वास्तविक हथिनी समझ कर मतवाला हो उठता है और भाग कर उसकी ओर जाता है। जाते ही गड्ढे में गिर जाता है और फिर भालों से छेदा जाता है और इस प्रकार उस का प्राणान्त हो जाता है।

इसी प्रकार सर्प भी जव श्रोत्रेन्द्रिय-विकार से पीड़ित होकर बांवी में से वाहर निकलता है और पुङ्गी बजाने वाले के पास फण फैला कर झूम-झूम कर उसकी सुरीली आवाज सुनता है तो आत्म-विस्मृत हो जाता है। उस राग में वह इतना अन्धा हो जाता है कि अपनी सुधबुध ही भूल जाता है और पकड़ने वाले सँपेरे—कालवेलिये उसे पकड़ लेते हैं। फिर उसके जहरीले दांतों और जहर की थैलियों को निकाल दिया जाता है। मारने वाले मार भी देते हैं और कई लोग पिटारे में वन्द कर देते हैं। पिटारा उसके लिए जिन्दगी भर का जेलखाना वन जाता है। सर्प की यह दुर्दशा राग के कारण ही होती है।

इसी प्रकार मछली भी राग के कारण अपने प्राणों से हाथ धो बैठती है। जब मच्छी पकड़ने वाले शिकारी तालाब या नदी पर जाते हैं और कांटे में आटे की गोली लगा कर पानी में डालते हैं तो रसना के राग में फँस कर मछली उस आटे को खाने के लिए कांटे को मुंह में लेती है। उसी समय कांटा तालु में चुभ जाता है और वह फड़फड़ा कर मर जाती है।

भैंसा स्पर्शनेन्द्रिय के राग में फँस कर शारीरिक सन्ताप का निवारण करने के लिए जलाशय में प्रवेश करता है तो कभी-कभी वड़े-वड़े मगर या अन्य प्रकार के विशालकाय जलजन्तु उसे खींच कर ले जाते हैं और खा जाते हैं।

को न पहचाने ! मनुष्य की कुलीनता-अकुलीनता उसके चेहरे पर अंकित रहती है और उस लिपि को पढ़ने की सामर्थ्य जिसमें है, वह अनायास ही पढ़कर समझ लेता है।

इस प्रसंग में भी मुझे एक बात याद आती है। एक बार किसी विशेष अवसर पर राजा भोज की सवारी निकलने वाली थी। एक अन्धे ने लोगों से कहा—मैं राजा भोज से मिलना चाहता हूँ। अन्धे की बात सुन कर लोगों ने कहा—तेरी अक्ल तो नहीं मारी गई है ! पृथ्वी पर खड़ा हो कर चाँद को पकड़ना चाहता है। बड़े-बड़े अमीर और उमराव तो प्रतीक्षा करते-करते निराश हो जाते हैं और राजा भोज से मुलाकात नहीं कर पाते और तू उनसे भेंट करने का मंसूबा बाँध रहा है। तेरी वहाँ कहाँ गुजर होगी ?

किन्तु अन्धे ने कहा—माई-बाप ! कृपा कर मुझे एक बार मिला दो।

तब एक सज्जन पुरुष ने कहा—अगर मिलने की तेरी बड़ी उत्कट इच्छा है तो चल मेरे साथ। मैं तुझे ऐसी जगह खड़ा किये देता हूँ जहाँ से होकर राजा की सवारी निकलेगी। शेष काम तू स्वयं कर लेना।

उसने अन्धे को ले जाकर वहाँ खड़ा कर दिया। राजा की सवारी आरम्भ हुई तो आगे-आगे दूसरे लोग—सिपाही और अन्य कर्मचारी—निकले। उन्होंने सूरदास से कहा—अरे अन्धे ! क्या तेरी अक्ल भी फूट गई है जो यहाँ रास्ते में खड़ा हो गया है ? चल, हट यहाँ से।

अन्धा चुपचाप सबकी बातें सुनता रहा। उसने सोचा—कोई बात नहीं है। दर्शन करने के लिए तो मुझे अपमान भी सहना पड़ेगा और डंडे भी खाने पड़ेंगे।

सज्जनो ! महत्त्वपूर्ण कामों के लिए ठोकरें भी खानी पड़ती हैं। परमात्मा से भेंट करने के लिए क्या-क्या नहीं करना पड़ता ? काम, क्रोध, लोभ, मोह आत्मा में थे, किन्तु जिन्होंने पुण्य उपार्जन किया था, उनकी परमात्मा से भेंट हो ही गई और वे शत्रु उनका कुछ भी न बिगाड़ सके। परमात्मा से मुलाकात भी करना और अपमान से भी डरना, ये दोनों बातें एक साथ नहीं बन सकतीं। जिसे अपने प्रेमी से मिलना होता है, उसे क्या-क्या मुसीबतें नहीं उठानी पड़तीं ? वह प्रसन्नतापूर्वक सब कष्टों और संकटों को सहन करता है और अपने ध्येय से विचलित नहीं होता।

तो उस अन्धे ने सोचा—अपमान सहन करके भी यदि मैं राजा से मुलाकात कर सकूँ तो भी मेरा जीवन धन्य हो जायगा।

सब लोग अन्धे को दुतकारते और फटकारते हुए निकल गये तो अन्त में राजा की सवारी आई। ज्यों ही उन्होंने सूरदास को देखा तो कहा—क्यों जी सूरदास जी, प्रज्ञाचक्षु जी, आप यहाँ कैसे खड़े हो ?

ये ऊँचे और मीठे शब्द सुन कर अन्धे ने प्रसन्न हो कर कहा—अन्नदाता ! मैं तो आपकी प्रतीक्षा में, आपके दर्शनों के लिए बड़ी देर से खड़ा हूँ। मैं आपसे ही मिलने के लिए खड़ा हूँ भोजराज महाराज।

राजा भोज अन्धे के मुख से अपना नाम सुन कर बड़े विस्मय में पड़ गये। सोचने लगे—मैं इसके सामने कभी आया नहीं, किसी ने इसको मेरा परिचय दिया नहीं, फिर इसने मुझे कैसे पहचान लिया ?

आँखों का रागी पतंगा किस प्रकार दीपक पर पड़ कर उसकी लौ में भस्म हो जाता है, यह कौन नहीं जानता ?

संगीत का रागी हिरन जंगल में बांसुरी की श्रुतिमधुर ध्वनि सुनकर मस्त हो जाता है और फलस्वरूप शिकारी के द्वारा गोली मार कर गिरा दिया जाता है।

अरे दुनिया के लोगो ! जब एक-एक इन्द्रिय का राग भी इस प्रकार प्राणहनन का कारण बनता है और जीव को घोरातिघोर दशा में पहुँचा देता है तो जो मनुष्य पाँचों इन्द्रियों का अनुरागी होता है उसकी कैसी दारुण दशा होगी ? सत्य तो यह है कि जब तक रागभाव नहीं छूटता तब तक मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकेगी। इस सम्बन्ध में सहसा एक बात स्मरण हो आई।

एक नवयुवक स्वस्थ और सुन्दर शरीर वाला था। मगर वह शरीर से ही नहीं, मस्तिष्क से भी सुन्दर था, अर्थात् अक्ल से भी बड़ा होशियार था। अच्छी कमाई करता था। मगर बुरी संगति के कारण वह जुआ खेलने, शराब पीने, वेश्यागमन करने, परस्त्री सेवन करने आदि की बुरी लतों—दुर्व्यसनों—का शिकार हो गया। इन दुर्व्यसनों की आग में उसका कमाया हुआ सारा पैसा भस्म हो जाता था। धीरे-धीरे उसके सिर पर काफी कर्ज़ भी हो गया। इस प्रकार कमाई करता हुआ भी वह अत्यन्त दुःखी हो गया। खर्च पूरा न पड़ने लगा। वह अविवाहित था, पर ऐसे दुर्व्यसनी को लड़की दे कौन ? जानबूझ कर कोई अपनी कन्या का जीवन बर्बाद नहीं करना चाहता।

जब उसका आचार-विचार असह्य हो गया तो विवश होकर माता-पिता ने उसे घर से पृथक् कर दिया। वह निराश होकर राज-

मार्ग पर चला जा रहा था केवल एक तमन्ना दिल में लिए हुए कि मुझको कोई सुख-दुःख में साथ देने वाला जिन्दगी का साथी मिल जाए। वह इसी उधेड़बुन में आगे बढ़ता जा रहा था कि सामने से आती हुई एक सुन्दरी नवयुवती उसे दिखाई दी। ज्यों ही वह उसके पास से गुजरी तो उस नवयुवक ने बड़े ही नम्रता और शिष्टाचार के शब्दों में उससे कहा—भद्रे ! क्या तुम मेरे जीवन का साथी बन सकती हो ?

सज्जनो ! शब्दों-शब्दों में और फिर उनको कहने के ढंग में बड़ा अन्तर होता है। यदि नवयुवक ने उद्दण्डता के साथ, काम-विकार की दृष्टि से ये शब्द कहे होते तो सम्भवतः बहुत बुरा और उलटा ही असर पड़ता, किन्तु उसने बड़ी गम्भीर मुद्रा में और कुछ आन्तरिक वेदना के साथ ये शब्द कहे थे। सौजन्य और शिष्टता का पूरी तरह निर्वाह करते हुए ही अपने विचार व्यक्त किये थे। यों राह चलती नवयुवती के सामने जीवनसाथी बनने का प्रस्ताव रख देना सामाजिक दृष्टि से अक्षम्य अपराध माना जाता है, परन्तु जो बात शुद्ध हृदय से कही जाती है, उसका प्रभाव अच्छा ही पड़ता है।

हाँ तो उस नवयुवती ने अचानक ही हृदय में उथल-पुथल मचा देने वाले शब्द सुने और नवयुवक की गम्भीर मुखमुद्रा देखी। नवयुवती भी बड़ी चतुर और अच्छाई-बुराई की परख करने वाली थी। उसने उसके शब्दों और ढंग से ही नवयुवक के जाति-कुल की परीक्षा कर ली।

सज्जनो ! मनुष्य को गधा नहीं पहचान सकता है। मनुष्य ही मनुष्य की परख करता है। भला वह मनुष्य ही क्या जो मनुष्य

प्रकट रूप से राजा भोज ने अन्धे से पूछा – सूरदास जी, आपने मुझे कैसे पहचान लिया ?

अन्धा—महाराज, आपसे पहले बहुत लोग इधर से निकले और वे मुझसे बोले। मगर उनकी बोली में वह बड़प्पन नहीं था; उच्चकोटि की कुलीनता उससे नहीं टपकती थी। किन्तु जब आप पधारे और आपने बड़प्पन भरे शब्दों से इस नाचीज़ को सम्बोधित किया तो मेरी अन्तरात्मा ने साक्षी दी कि यही महाराजाधिराज भोज हैं। महाराज, मैं आपसे मुलाकात कर सका, अतएव मेरे जीवन की एक बड़ी लालसा पूरी हुई। किन्तु अन्नदाता ! मेरी स्थिति ऐसी है कि कुछ कह नहीं सकता।

अन्धे का कथन सुन कर राजा ने कहा—सूरदास जी तुम घबराओ मत। तुम को घर बैठे जीवन का साधन मिल जाया करेगा।

तो अभिप्राय यह है कि वाणी कुलीनता-अकुलीनता को कसौटी है। वह हीनता और महत्ता को तत्काल प्रकट कर देती है उससे बड़े और छोटे का भेद मालूम हो जाता है।

तो मैं कह रहा था कि वह नवयुवती भी कुलीन घराने की थी, अतः सब कुछ सोच-समझ कर उसने उस नवयुवक को उत्तर दिया—क्यों नहीं जीवन का साथी बन सकती हूँ ? जैसे तुमको जीवन के साथी की जरूरत है, वैसे ही मुझको भी जीवनसाथी की अपेक्षा है, क्योंकि मैं भी कुंवारी हूँ और यह जीवन बिना सहयोग के नहीं चलता है। मुझे आपका जीवन-साथी बनने में कोई आपत्ति नहीं है, परन्तु पहले मैं जानना चाहूँगी कि आपके जीवन में कोई दुर्व्यसन तो नहीं है ?

सज्जनो ! जरा ध्यान दो उस नवयुवती के प्रश्न पर । उसने यह नहीं पूछा कि आपके घर में मोटर है ? रेडियो है ? सोने का कंदोरा और गोखरू हैं ? रहने को शानदार बंगला है ? उस भद्रा ने, जीवन में जो तत्त्व की बात है, वही पूछी कि आपके जीवन में कोई ऐब तो नहीं है। कोई दुर्व्यसन तो ऐसा नहीं है जो हमारे दाम्पत्य जीवन के सुख में बाधक हो और हमारे स्वर्गीय जीवन को नारकीय बना दे ?

उस नवयुवती ने कहा – दाम्पत्य जीवन एक-दो दिन का नहीं कि जैसे-तैसे निभा लिया जाय । वह जीवनपर्यन्त के लिए होता है । यह हम दोनों की लम्बी यात्रा को सुचारुरूपेण निर्बाध गति से चलाने का प्रश्न है । अतएव मुझे सिर्फ इसी प्रश्न का उत्तर मिलना चाहिए ।

किन्तु नवयुवती का प्रश्न सुन कर युवक का मस्तक लज्जा से नीचे झुक गया । कुछ समय तक कंठ अवरुद्ध रहा और वह उत्तर न दे सका । वह मन ही मन सोचने लगा—धिक्कार है मुझको ! मैंने मनुष्य होकर भी अपने जीवन को रसातल में पहुँचा दिया। अगर मैंने इस भद्रा को झूठ बोल कर धोखा दिया तो मेरी नीचता की पराकाष्ठा हो जायगी । हमेशा के लिए मुझे जीवन सूत्र में गुंथना है तो इससे कोई बात छिपानी नहीं चाहिए और जो वास्तविकता है वह प्रकट कर देनी चाहिए ।

इस प्रकार निश्चय करके उसने कहा—भद्रे ! तुम्हारे प्रश्न के उत्तर में मुझे यही कहना है कि मेरा जीवन अनेक ऐबों से चलनी चलनी हो रहा है । जब मैं तुम्हें अपनी जीवनसंगिनी बनाना चाहता

हूँ तो मेरा यह कर्त्तव्य है कि तुमसे कुछ भी पर्दा न रक्खूं, सब वात साफ-साफ वतला दूं। कहा है—

प्रीत जहाँ पर्दा नहीं, पर्दा जहँ नहिं प्रीत।
प्रीत करी पर्दा रखे, प्रीत नही विपरीत॥

जहाँ पर्दा है वहाँ प्रीति कैसी ? और जहाँ प्रीति है वहाँ पर्दा कैसा ?

तो उस नवयुवती ने कहा—जव तक दुर्व्यसन आपके साथी हैं, मैं आपकी साथी कैसे वन सकती हूँ ? आप जानते ही हैं कि एक म्यान में दो तलवारें नहीं समा सकतीं। मैं आपके साथ रह कर अपना जीवन नहीं विगाड़ सकती।

नवयुवती की स्पष्ट और युक्तियुक्त वात सुनी तो नवयुवक के मन में एक नया द्वन्द्व उठ खड़ा हुआ। एक नवीन समस्या उत्पन्न हो गई। उसके जीवन में दुर्व्यसनों ने पक्का अड्डा जमा रक्खा था और उन्हें निकाल देना आसान काम नहीं था। माता, पिता, कुटुम्वी और मित्रगण उसे समझा कर निराश हो चुके थे और वह दुर्व्यसनों का परित्याग नहीं कर सका था। मगर इस समय की परिस्थिति कुछ और प्रकार की थी। एक ओर दुर्व्यसनों को त्यागने का प्रश्न था और दूसरी ओर जीवन का साथी वनाने का प्रश्न। दोनों वातें वन नहीं सकती थीं। युवती का प्रेमी वनना है तो दुर्व्यसनों को दूर करना होगा और यदि दुर्व्यसनों को दूर नहीं किया जा सकता तो उसके प्रेम से वंचित होना पड़ेगा।

सज्जनो ! इस आत्मा के लिए असाध्य क्या है ? आत्मा में अनन्त-अनन्त क्षमताएँ भरी हुई हैं। उसके वल की कहीं सीमा नहीं

है। अतएव अगर आत्मा दृढ़ संकल्प कर ले तो सभी कार्य उसके लिए सुसाध्य हो जाते हैं। बस अपनी सोई हुई शक्ति को जगाना चाहिए। जब तक स्वाभिमान अंगड़ाई लेकर उठता नहीं है, तभी तक सब काम असाध्य प्रतीत होते हैं और जब वह जागृत हो जाता है तो दुस्साध्य कार्य भी सुसाध्य हो जाते हैं।

नवयुवती के प्रश्न ने नवयुवक की सुषुप्त चेतना को जागृत कर दिया। वह लज्जित हो गया, पर उसकी आँखें खुल गईं। उसने उसी समय सूर्य को साक्षी करके प्रतिज्ञा कर डाली—'आज से मैं समस्त दुर्व्यसनों का परित्याग करता हूँ। मैं प्राण त्याग दूँगा पर प्रण नहीं भंग करूँगा। सूर्यदेव मेरी इस प्रतिज्ञा का साक्षी है।' उसी समय उसने एक प्रतिज्ञापत्र भी लिख दिया।

आज की क्या स्थिति है? बहुत-से लोग गुरुओं के समक्ष अरिहन्त भगवान् की साक्षी से प्रतिज्ञा लेकर भी तोड़ देते हैं। सूर्य को कदाचित् पता नहीं किन्तु अरिहन्त तो केवलज्ञानी हैं, सर्वज्ञ है, यह जानते हुए भी लोग असत्य का आचरण करते हैं। भगवान् को धोखा देना अपने आपको ही धोखा देना है। ऐसे आत्मवंचना करने वाले लोगों के जीवन का क्या मूल्यांकन किया जाय? क्या महत्त्व माना जाय?

हाँ तो उस प्रतिज्ञा का परिणाम यह हुआ कि उस युवती ने अपने घर जाकर माता-पिता के समक्ष अपने विचार प्रकट करते हुए कहा—आप बहुत दिनों से मेरे वर की तलाश में घूम रहे हैं, परन्तु आपको मेरे योग्य वर नहीं मिला। मैंने उसी वर को आज खोज लिया है और आपकी सारी तकलीफ दूर कर दी है। पूज्य

माता-पिता ! मैंने अपने जीवन का साथी तलाश कर लिया है। अब आप इस चिन्ता से मुक्त हों।

इस प्रकार कह कर उसने युवक के साथ हुई बात-चीत की राम कहानी कह सुनाई। यह भी कह दिया कि मैं इस सम्बन्ध से सन्तुष्ट हूँ और आपकी अनुमति चाहती हूँ।

सज्जनो ! सुलझे हुए के साथ रिश्ता किया तो क्या किया ? किसी बिगड़े जीवन को सुधारने में ही सुधरे जीवन की सार्थकता है।

लड़की के माता-पिता उदारचेता और बुद्धिमान् थे। लड़की की बात सुन कर उन्होंने बुरा नहीं माना; लड़की को उद्दण्ड नहीं समझा, बल्कि यह सोचा—लड़की बड़ी बुद्धिमती है जिसने सम्बन्ध होने से पहले ही एक नवयुवक के गिरते हुए जीवन को उठा दिया, बिगड़े को सुधार दिया। सम्बन्ध होने के पश्चात् तो न जाने यह क्या प्रकाश करेगी !

यह सोच कर और लड़की के भविष्य पर विश्वास करके माता-पिता ने आज्ञा दे दी। विवाह की तिथि नियत हो गई। फेरों का समय आया तो सात वचन वर की तरफ से वधू को और सात ही वचन वधू की ओर से वर को अंगीकार करने पड़ते हैं। वह सब करने के अतिरिक्त वर ने पहले जो प्रतिज्ञापत्र लिख कर दिया था, उसे सुन्दर चौखट में जड़वा कर वधू को समर्पित किया। उसने अपनी प्रतिज्ञा पंचों के समक्ष दोहराई।

विवाह की इस विधि में यह अपूर्वता थी। यह देख सुन कर सब लोग वाह-वाह और धन्य-धन्य करने लगे। विवेकशील लोगों ने

कहा—कितनी असाधारण और उत्कृष्ट कन्या है यह जिसने मोटर, रेडियो, धन-दौलत आदि कुछ नहीं देखा; सिर्फ शुद्ध, सदाचारी और स्वस्थ वर ही देखा और उसके समस्त दुर्व्यसनों का त्याग करवा दिया। वास्तविक जीवन साथी तो व्यक्ति होता है, न कि रेडियो और धन आदि।

विवाहविधि सम्पूर्ण हो जाने के पश्चात् वर-वधू ने जब गृह-प्रवेश किया तो माता-पिता के आनन्द का पार न रहा। उनके हृदय-सरोवर में हर्ष और उल्लास की उत्तुंग तरंगें उठने लगीं। उन्होंने बहूरानी को वरदायिनी देवी के रूप में ग्रहण किया। वे पुनः-पुनः उसकी प्रशंसा करने लगे कि—धन्य हो बेटी, तुमने हमारे पुत्र के जीवन को नया मोड़ प्रदान किया है। एक प्रकार से नवीन स्पृहणीय जीवन प्रदान किया है। सब ने उन्हें शतशः शुभाशीर्वाद दिये।

सारे परिवार का वातावरण बदल गया। दोनों सानन्द दाम्पत्य जीवन व्यतीत करते हुए सुखपूर्वक रहने लगे और अपने अपने धर्म का पालन करने लगे।

यह एक दृष्टान्त है। मुझे उस नवयुवक और नवयुवती से क्या लेना है? मगर कुछ लेना भी है और इसीलिए इतनी मेहनत की है। इस उदाहरण से अनेक निष्कर्ष निकलते हैं। सब से पहिले तो यही निष्कर्ष निकलता है कि अगर लड़की विदुषी और समझदार होती है तो वह बिगड़े हुए को भी सुधार लेती है। अतएव माता-पिता को चाहिए कि अपनी लड़कियों को सुशिक्षिता बनावें परन्तु साथ ही साथ उनके सुसंस्कारों एवं सदाचार की ओर भी ध्यान

रक्खें; क्योंकि सुसंस्कार और सदाचार के विना दूसरों को सुधारना शक्य नहीं है।

दूसरा निष्कर्ष यह निकलता है कि विवाह वास्तव में वर-वधू का होता है; उसमें धन की प्रधानता नहीं होती। अतएव जो लोग मोटरें और पीली-पीली मोहरें माँगते हैं, वे वस्तुतः धन के साथ अपनी सन्तान का विवाह करते हैं। वे विवाह के उद्देश्य से सर्वथा अपरिचित हैं। जिस सम्वन्ध मे वर-वधू के सद्गुणों का ख्याल न कर के धन-दहेज का ही ख्याल किया जाता है, वे भविष्य में भाग्य से ही सुखदायी सिद्ध होते हैं। अगर लड़का सदाचारी और बुद्धिमान् है तो वह सब कुछ प्राप्त कर लेगा और यदि दुराचारी है तो मोटरों, बंगलों और धन-दौलत को भी समाप्त कर देगा।

इस उदाहरण से अन्य अनेक बातों पर भी प्रकाश पड़ता है, जिन पर प्रकाश डालने की विशेष आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। बुद्धिमान् स्वयं ही भली-भाँति सोच-समझ सकते हैं।

किन्तु ये निष्कर्ष ऐहिक हैं, अतएव सामान्य हैं। जिस विषय का स्पष्टीकरण करने के लिए यह दृष्टान्त दिया गया था, वह तो दूसरा ही है और उपसंहार में उस पर प्रकाश डालना उचित होगा।

यहाँ राग, द्वेष और मिथ्यात्व का प्रसंग चल रहा है। उस नवयुवक को सुशीला और आदर्श कन्या तभी प्राप्त हो सकी जब कि उसने दुर्व्यसनों के अनुराग का त्याग किया। अगर उसने दुर्व्यसनों के अनुराग का त्याग न किया होता तो वह हाड़-माँस की पुतली उस युवती को प्राप्त नहीं कर सकता था। सज्जनो! नवयुवक ने

उसे प्राप्त करने के लिए, जिसके विषय में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वह आजीवन साथ देगी ही देगी, दुर्व्यसनों का त्याग कर दिया! हम प्रतिदिन देखते ही हैं कि इस नाशवान् संसार में पति पत्नी को और पत्नी पति को छोड़ कर सहसा चल देते हैं। फिर भी ससार आशा पर ही अवलम्बित है।

तो एक सुयोग्य नवयुवती को प्राप्त करने के लिए भी जब दुर्व्यसनों का त्याग करना आवश्यक है तो उस युवती—शिवरमणी को प्राप्त करने के लिए अगर राग, द्वेष और मिथ्यात्व का पूर्ण त्याग अनिवार्य है तो उसमें आश्चर्य की बात ही क्या है? अतएव राग, द्वेष, और मिथ्यात्व को त्यागे बिना मुक्ति-वधू का समागम नहीं हो सकता। उसका समागम हो जाने पर फिर दूसरा लग्न करने का आवश्यकता नहीं रहती। उसे पाने के लिए बड़े त्याग की आवश्यकता है. दुर्व्यसनी को, निन्दक को और चुगलखोर को उस की प्राप्ति नहीं हो सकती। उसको प्राप्त करने में ही जीवन की कृतार्थता है। उसके प्राप्त हो जाने पर समस्त कामनाएँ पूर्ण हो जाती है। इस प्रकार जो राग-द्वेष की परिणति का त्याग करता है, वह संसार-समुद्र से पार हो जाता है।

ब्यावर
१९—१०—५६

अपनी शक्ति को पहचानो !

उपस्थित महानुभावो !

यह वात निर्विवाद रूप से शास्त्रसिद्ध और समस्त अध्यात्म-वादियों में प्रसिद्ध है कि आत्मा अनन्त शक्तियों का पुञ्ज है, अनन्त सामर्थ्य का आगार है। इस आत्मा को कहीं बाहर से शक्ति ढूंढ कर लाने की आवश्यकता नहीं है। जिसके घर में नहीं होता, उसी को बाहर से लाने की आवश्यकता पड़ती है। किन्तु खेद की वात यह है कि आत्मा ने अपने असीम वैभव को पहचाना नहीं है, अतएव भीतर में आनन्द की परिपूर्ण सामग्री होने पर भी यह दूसरे के घर जाकर माँगता फिरता है।

बात यह है कि बहुत से लोग आलसी, दरिद्री और पुरुपार्थ हीन होते हैं। उनकी आदत कुछ ऐसी होती है कि उन्हें कमा कर खाना भी मुश्किल हो जाता है और गौरव के साथ जीने में भी मुश्किल होती है। उनका जीवन दूसरों की दृष्टि में भले ही तिरस्कृत एवं अपमानित ही क्यों न हो और घर पर जाने पर उन्हें दो-चार गालियाँ ही क्यों न मिलें, किन्तु वे इतने दीन और स्वाभिमानहीन हो जाते हैं कि उस तिरस्कार की परवाह नहीं करते। वे यही कह कर सन्तोष ग्रहण कर लेते हैं कि—इसमें क्या है ! हमारा क्या विगड़ गया ! मगर जो इज्जतदार है, जो गौरववान् है और जिसे स्वाभिमान का भान है, वह हरगिज अपमान को सहन नहीं करेगा।

तो तथ्य यह है कि वह अपने सामर्थ्य को विस्मृत कर बैठा है। पास में पूंजी होने पर भी दूसरों से माँगने का आदी हो गया है।

एक रंक होता है, दूसरा कृपण होता है। जिसके पास जीवनोपयोगी साधन नहीं होते, उसे रंक कहते हैं। वह अपनी उदरपूर्ति के लिए दूसरों से भीख माँगता है। उसका माँगना दूसरों को सहन हो जाता है। अगर याचक का शरीर भी साथ नहीं देता तो उसकी दयनीय दशा देख कर लोग सोच लेते हैं कि इसके लिए दूसरा कोई चारा नहीं है और उसकी याचना को भी यथाशक्य पूरी कर देते हैं।

मगर कृपण के पास सब कुछ होता है। वह जीवनोपयोगी साधनों से रिक्त नहीं होता। किन्तु उन्हें वह अपनी कृपणता के कारण दबाये रखता है और काम में नहीं लाता है। वह सोचता है कि बाहर से जो मिल जाय वही भला है। भागते भूत की लंगोटी ही भली है।

तो जिसका जीवन इस प्रकार ढीठ बन जाता है, वह तिरस्कृत जीवन व्यतीत करता हुआ भी, दूसरों से याचना करता हुआ भी लज्जित नहीं होता।

मैं कह रहा था कि यह जीव रंक नहीं है, अर्थात् इसको किसी प्रकार का अभाव नहीं है बल्कि यह अनन्त निधियों का स्वामी है, फिर भी कृपणवत् बन रहा है। यह अपने, भीतर छिपी निधि को काम में नहीं लाता है और दूसरे के द्वार पर जाकर याचना करता है, ऐसे कृपण एक-दो नहीं हैं। उनकी सूची बनाना भी कठिन है।

जो दूसरे के बल पर जीते हैं वे अपने स्वाभिमान का दिवाला निकाले हुए कायर होते हैं।

तो सब प्रकार की अनन्त शक्तियाँ होने पर भी यह आत्मा कृपण बन रहा है। इसने अपनी निजी निधियों को काम, क्रोध, मद, मोह, राग-द्वेष की मिट्टी डाल कर दबा दिया है और दूसरों से भीख माँग-माँग कर अपनी आजीविका चलाता है। किन्तु माँग कर आजीविका चलाने मात्र से आत्मा में स्वाभिमान की जो झंकार होती है, वह नष्ट हो जाती है और वह क्रान्ति, वह वीर्य और वह वीरों वाली हुङ्कार भी नष्ट हो जाती है। अतएव मनुष्य चाहे थोड़ा ही जिए किन्तु स्वाभिमानी बन कर जिये।

हे आत्मन् ! भली-भांति समझ ले। जब तक तू अपनी निधि को, जिसके ऊपर तूने अज्ञानवश काम, क्रोध आदि की मोटी-मोटी शिलाएँ जमा रक्खी हैं उन्हें हटा कर, काम में नहीं लाएगा, तब तक तेरा दारिद्र्य दूर नहीं होगा। जो अपनी ही शक्ति पर भरोसा रखते हैं और उसी के बल पर जीवन निर्वाह करते हैं, उन्हें ऐसी शक्ति प्राप्त होती रहती है कि फिर किसी के आगे हाथ पसारने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। ऐसी शक्ति हमारे पास मौजूद है, किन्तु उस पर तीन दोषों का आवरण आया हुआ है, जिससे वह शक्ति प्रकट नहीं होने पाती। वे तीन दोष हैं—आवरण दोष, मल-दोष और विक्षेप दोष। ये त्रिदोष हैं और इन्हें राग, द्वेष तथा मिथ्यात्व के नाम से कहने में भी कोई अनौचित्य नहीं है।

वैष्णवधर्म में जिसे आवरणदोष कहा जाता है, उसका भी अर्थ गुणों पर आवरण आ जाना है। आँखों में स्वभावतः रोशनी

होती है परन्तु पट्टी बाँध देने से वह छिप जाती है और उन आँखों में रोशनी विद्यमान रहने पर भी संसार के पदार्थों का अवलोकन नहीं किया जा सकता। जैन शास्त्रों में आठ प्रकार के आवरणों का निरूपण है जो आत्मा के नैसर्गिक गुणों को आच्छादित किये हुए हैं। उनमें प्रथम ज्ञानावरण है जिसने आत्मा की ज्ञानशक्ति को आवृत कर रक्खा है। दर्शनावरण ने देखने की अनन्त शक्ति को—केवल-दर्शन की शक्ति को—जिसके द्वारा यह आत्मा लोकालोक के भावों को अपने स्थान पर स्थित रह कर देख सकता है, आच्छादित कर दिया है। वेदनीय कर्म ने आत्मा के अनन्त आनन्दस्वरूप को लूट लिया है। इस कर्म ने अनन्त आनन्द के अक्षय भंडार आत्मा में दुःख का विकार उत्पन्न कर दिया है!

अपने स्वरूप को भूल जाना और गैरों से मुहब्बत लगा देना मोहनीय कर्म की मदिरा का काम है। जैसे शराबी शराब पीकर आत्मविस्मृत हो जाता है और अपना माल लूटने वाले दुश्मनों को भी मित्र समझकर उनका स्वागत करता है, उसी प्रकार मोह के वशवर्त्ती हो कर संसारी प्राणी अपने स्वरूप को विस्मृत कर देता है और परपदार्थों के प्रति आसक्ति धारण करता है। मोह का ही यह प्रभाव है कि जीव ज्ञान-दर्शन-चरित्र जैसे मित्रों को छोड़ कर राग, द्वेष और मिथ्यात्व रूपी शत्रुओं के साथ प्रीति कर रहा है और उन्हें अपना समझ रहा है।

किन्तु शराबी अपने शत्रुओं को तभी तक मित्र मानता है जब तक उसका नशा नहीं उतर जाता। नशा उतर जाने पर उसकी आँखें सही रूप में काम करने लगती हैं। फिर वह शत्रु को शत्रु और मित्र को मित्र समझने लगता है। इसी प्रकार जब तक मोह की

मादकता का प्रभाव है तब तक ही जीव की विडम्बना है। मोह का नशा उतर जाने के पश्चात् जीव सही राह पर आ जाता है और उसका विवेक जाग उठता है।

आयु कर्म इस स्वतन्त्र आत्मा को बंधन में डाल देता है और अमुक काल तक एक ही शरीर में बाँध रखता है। खोड़े या कारागार में से कोई कैदी कदाचित् सिफारिश, जमानत या रिश्वत देकर छूट भी जाय, मगर आयु कर्म के खोड़े में पड़ा हुआ प्राणी पूरे आयु कर्म को भोगने से पहले किसी भी प्रकार नहीं छूट सकता। उसे सुख-दुःख पूर्वक आयु कर्म को भोगना ही पड़ेगा।

जब भगवान् महावीर का निर्वाण होने लगा तो इन्द्र ने निवेदन किया—भगवन्! भस्मक ग्रह का योग है, अतः अपनी थोड़ी-सी आयु बढ़ा लीजिए। ऐसा करने से इस दुष्ट ग्रह का होने वाला दुष्परिणाम टल जायगा। तब भगवान् ने उत्तर दिया—हे इन्द्र! मुझमें तो क्या, अनन्त चौवीसियों में भी यह शक्ति नहीं कि किसी की आयु में एक क्षण की भी वृद्धि कर सकें।

सज्जनो! आयु कर्म के जो पलिक जीव ने बाँधे हैं, उन्हें पूरा भोगना ही पड़ता है। हाँ, एक बात है और वह यह कि ज्ञानी उस अवधि को समभाव से भोग लेते हैं और अज्ञानी रो-रो कर भोगते हैं। ज्ञानी प्रत्येक परिस्थिति में अपने समभाव का परित्याग नहीं करता। वह सुख-दुःख में समान-भाव रखता है। वह जानता है कि मैंने जो कर्म बाँधे हैं, उन्हें मुझे ही भोगना पड़ेगा। अगर आकुल-व्याकुल हो कर भोगे तो आगे के लिए पुनः नूतन कर्मों का बंध हो जायगा।

कर्मों का भोग तो ज्ञानी और अज्ञानी दोनों को ही भोगना पड़ता है, किन्तु अज्ञानी आर्त्तध्यान करके और नये चिकने कर्म वाँध लेता है। मान लीजिए, किसी को किसी का कर्ज़ चुकाना है तो यदि उसे ठीक तरह प्रसन्नतापूर्वक दे दिया जाय तव भी देना पड़ा और यदि घर पर आये हुए को गाली-गलौज करके या मार-पीट करके चुकाया तव भी चुकाना पड़ेगा। मगर अन्तिम तरीके से जेलखाना और नफे में होगा।

इसी प्रकार दुःख के समय जो रोते हैं, कलपते हैं, हाय-हाय करते हैं, आर्त्तध्यान करते हैं, वे और अधिक नवीन कर्म वाँध रहे हैं। जो इष्ट का वियोग और अनिष्ट का संयोग मिलने पर आर्त्त-ध्यान करते हैं, विलाप करते हैं, उसका कोई शुभ परिणाम नहीं निकलने वाला है वल्कि विपरीत ही परिणाम निकलेगा। क्योंकि तूने यदि इष्ट वस्तु प्राप्त होने योग्य कर्म वाँधे होंगे तो वह अवश्य मिलेगी, और यदि ऐसे शुभ कर्म ही नहीं किये तो तू भले तड़फ-तड़फ कर ही क्यों न मर जाय, वह मिलने वाली नहीं है।

तू नहीं चाहता कि अनिष्ट का संयोग हो, किन्तु यदि तूने अशुभ कर्मों का वन्धन किया है तो वह अवश्यंभावी है। तू उसे कैसे रोक सकता है? ज्यों-ज्यों तू अनिष्ट वस्तुओं के वियोग के लिए रोएगा त्यों-त्यों वे अधिकाधिक सन्निकट आएँगी और वह कष्ट असह्य हो जायगा।

ज्ञानी जन दोनों अवस्थाओं में समभाव रखते हैं। इष्ट वस्तु मिल गई तो वे मानते हैं—यह मेरे शुभ कर्मों का फल है। कदाचित् अनिष्ट की प्राप्ति हो गई तव भी अपने ही अशुभ कर्मों का फल मान कर सन्तोष धारण करते है।

भाइयो ! हमारे पास कई तरह के लोग आते हैं और प्रसंग-वश अपना-अपना दुखड़ा रोते हैं। किसी को धनाभाव का कष्ट है। किसी को पारिवारिक कष्ट है। किसी को और ही कोई कष्ट है। इससे प्रतीत होता है कि इस संसार में किसी को पूरा सुख और सन्तोष नहीं है। वास्तव में संसार दुःखमय है। और इस काल-आरे का तो नाम ही दुःखमय आरा है। सुख के ज़माने लद गये, बहुत पीछे रह गये। अब उनका हाथ आना बहुत कठिन है।

शास्त्र में प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के छह-छह जमाने – आरे माने गए हैं। उतार-चढ़ाव के कारण काल कुए में घूमने वाली माल की तरह चक्कर काटता रहता है और न इसका आदि है, न अन्त है। जैसे माल की घड़ियाँ ऊपर-नीचे आती-जाती रहती हैं और माल दिन भर घूमती रहती है; नहीं कहा जा सकता कि कौन-सी घड़ियाँ पहले आई और कौन सी पीछे आई, इसी प्रकार इस काल चक्र का भी आदि-अन्त काल नहीं निश्चित हो सकता। कौन-सा काल पहले और कौन-सा पीछे आया यह नहीं कहा जा सकता। परिवर्तन का चक्र निरन्तर चलता ही रहता है।

अवसर्पिणी काल के पहले जमाने का नाम सुखमासुखमा था। जैसा उसका नाम था वैसा ही उसका गुण भी था। उदाहरणार्थ जिस समय किसी के घर में धन है। उसे पुत्र की भी प्राप्ति हो गई, प्रतिष्ठा भी मिल गई और फिर ऊँचा पद भी मिल गया; तो समझा जाता है कि सुख में सुख हो गया। एक सुख में दूसरे सुख का मिलते जाना सुखमासुखमा है। यह जमाना—पीरियड—आरा छोटा नहीं है, चार कोड़ाकोड़ी सागरोपम जितना लम्बा है। बड़ा दीर्घ काल है।

आप सोचते होंगे कि यह सागरोपम क्या है ? सज्जनो ! शास्त्र में सागर की व्याख्या की गई है। उसे स्थूल रूप में समझाने का प्रयत्न करता हूँ।

एक करोड़ से एक करोड़ का गुणाकार करने पर जो राशि लब्ध होती है, वह कोड़ाकोड़ी कहलाती है। इस प्रकार दस कोड़ा-कोड़ी पल्योपम का एक सागरोपम होता है।

प्रश्न हो सकता है कि पल्योपम क्या है ? इसका उत्तर इस प्रकार है—

एक कोस गहरा, चार कोस चौड़ा एक कुआ हो। उसमें युगलिया मनुष्यों के तत्काल जन्मे हुए वालक के वाल वारीक करके ठांस-ठांस कर भर दिये जाएँ और वह इतना सख्त हो जाय कि उसके ऊपर से चक्रवर्त्ती की सेना निकल जाने पर भी किसी प्रकार का दवाव न आवे। जैसे जीनिंग फैक्टरी में रूई की गांठें ऐसी दवा कर वाँधी जाती हैं कि सहसा पानी और आग का भी उसमें प्रवेश नहीं हो सकता। इसी प्रकार सख्ती से कुआ भर जाने के पश्चात् सौ-सौ वर्ष व्यतीत हो जाने पर वाल का एक-एक कण निकाला जाए। निकालते-निकालते जितने समय में वह कुआ पूर तरह खाली हो जाय, उतना ही समय एक पल्योपम कहलाया करता है।

सज्जनो ! ऐसा गड्ढा-कुआ न तो किसी ने भरा है और न कोई भरेगा, केवलज्ञानियों ने काल की दीर्घता को मोटे रूप में जनसाधारण को समझाने के लिए एक उदाहरण उपस्थित किया है।

युगलिया मनुष्यों के बालों से उस गड्ढे को भरने का जो कथन किया गया है, उसका भी एक प्रयोजन है। युगलियों के जोड़ा ही उत्पन्न होता है। उनके जीवन में कोई दस-बीस बच्चे पैदा नहीं होते कि कोई चीं करे, कोई चूं करे, कोई टट्टी और पेशाब करे; जैसी कि आजकल रचना देखी जाती है। भोगभूमि में ऐसी विडम्बना नहीं होती। वहाँ का युगल दम्पती जीवन में सिर्फ एक बार एक युगल को जन्म देता है।

हम एक बार नागौर से विहार करके मेड़ता की ओर जा रहे थे। मेड़ता स्टेशन पर एक बाबू के मकान में ठहरे। बाबू जोधपुर का जैन था। हम वहाँ ठहर तो गए पर बच्चों की च्याऊं-म्याऊं देख कर हैरान रह गये और सोचने लगे—कब दोपहर ढले और कब यहाँ से रवाना हों। दोपहरी ढली तो हम ने बाबू जी से कहा—बाबू जी, हम तो जाते हैं।

सज्जनो! गटर—गंदी मोरी का कीड़ा गटर में ही खुशी मानता है। मगर वाटिका में विहार करने वाले और कुसुमों का सौरभ ग्रहण करने वाले भ्रमर को वह बदबू कब पसन्द हो सकती है?

तो मैं कह रहा था कि वह युगलिक काल कभी यहाँ भी था। मगर परिस्थितियाँ पलटती रहती हैं। धीरे-धीरे परिवर्तन होते-होते वह काल पूरी तरह समाप्त हो गया और नए प्रकार का जमाना आ गया।

इस भूतल पर १०१ क्षेत्र मनुष्यों के हैं, अर्थात् १०१ क्षेत्र ही ऐसे हैं जहाँ मनुष्यों का जन्म एवं रहन-सहन होता है। इनके

अतिरिक्त इस मेदनी पर अन्य असंख्य क्षेत्र—द्वीप—हैं, मगर वहाँ मनुष्य नहीं, केवल पशु-पक्षी आदि हैं। यह बात अलग है कि कोई मनुष्य वहाँ विद्या के बल से चला जाए या देवता उठा कर ले जाए और वहाँ फेंक दे।

तो मैं कह रहा था कि अति सन्तान का होना भी जीवन की बड़ी विडम्बना है। बेचारी गृहिणी को टट्टी-पेशाब की सफाई करते-करते हैरान हो जाना पड़ता है।

पंजाब प्रदेश के रोहतक जिले में झज्जर नामक एक कस्बा है। हम वहाँ गए तो एक जैन तहसीलदार साहब की पत्नी हमारे पास आई और कहने लगी—महाराज, मैंने अठारह पुत्रों को जन्म दिया, पर आज एक भी जीवित नहीं है। हाँ, एक लड़के की शादी हुई थी और उसकी बालिका मौजूद है। मल-मूत्र उठाते-उठाते ही मेरी जिंदगी बीती, सुख कुछ भी न मिला।

मतलब यह है कि वे बदला लेने आये थे सो लेकर चले गए। कोई पुत्र, कोई पुत्री, कोई भाई-बहिन, माता-पिता बन कर बदला लेता है। तो जिन वस्तुओं में तुम आसक्त हो रहे हो, वे जीवन का त्राण करने वाली वस्तुएँ नहीं है।

महात्मा बुद्ध को द्वारपाल ने आकर सूचना दी—आपके पुत्ररत्न का जन्म हुआ है। अन्नदाता, बहुत-बहुत बधाइयाँ स्वीकार कीजिए।

बुद्ध ने यह सम्वाद सुन कर कहा—चलो, मेरे पैरों में एक बेड़ी और पड़ गई!

हाँ तो युगलियों में एक ही बार युगल सन्तान उत्पन्न होती है और उसका थोड़े दिन ही पालन-पोषण करना पड़ता है। युगलियों की मृत्यु भी कितनी सुखपूर्वक और सहसा होती है ! एक को छींक आती है और दूसरे को उवासी (जंभाई) आती है और दोनों एक साथ मर जाते हैं। उन्हें इस समय के लोगों की भाँति खाट पर पड़े-पड़े रोते-झींकते नहीं मरना पड़ता। जीवाभिगमसूत्र और प्रश्न-व्याकरणसूत्र में उल्लेख है कि युगलिया प्रकृति से बड़े भद्र होते है, विनयशील होते हैं और उनके काम, क्रोध, मद, लोभ, राग, द्वेष बहुत पतले होते हैं। वे पूर्ण आर्य होते हैं। चुगली करना नहीं जानते।

क्या कहा जाए, जमाने की विधि बड़ी विचित्र है। युगलियों का समय इतना सुन्दर होता है कि मनुष्य तो आर्य होते ही है, किन्तु उस समय के शेर और भेड़िये भी आर्य होते हैं। वे किसी को कष्ट नहीं पहुँचाते। मांसाहारी नहीं बल्कि शाकाहारी होते हैं। वे पशु भी युगल ही होतें हैं। एक ही युगल को जन्म देते हैं—रेवड़ की रेवड़ – फौज नहीं जन्मती। केवल फल-फूल खाते हैं। कल्पवृक्षों से उनकी कामना पूरी हो जाती है। उनका आपस में कोई क्लेश, द्वेष, रोष या झगड़ा-झंझट नहीं होता। सब अपने-अपने हाल में मस्त रहते हैं। उनकी तीन पल्योपम की उत्कृष्ट आयु होती हे। अतिशय सुन्दर और सुरूप होते हैं।

एक सौ एक क्षेत्रों में से ८६ क्षेत्र तो युगलियों के हैं अर्थात् अकर्मभूमि के हैं ओर १५ कर्मभूमि के हैं।

तो कर्मभूमि के कुल १५ क्षेत्र हैं। इन क्षेत्रों में असि, मषि और कृषि आजीविका के प्रधान साधन होते हैं। अर्थात् यहाँ शस्त्र,

स्याही और खेती से काम लिया जाता है। कर्मभूमि के जीव इन कर्मों से अपना जीवन निर्वाह करते हैं। अकर्मभूमि में जो युगल होते हैं, उन्हें इन कर्मों में से किसी की आवश्यकता नहीं होती। न शस्त्र चलाना पड़ता है, न पढ़ना-लिखना होता है और न खेती-पाती करनी पड़ती है। कल्पवृक्षों से अनायास ही उनकी सारी आवश्यकताएँ पूर्ण होती रहती है। वस्तुएँ इतनी बहुतायत से होती हैं कि उनका उपयोग भी पूरा नही हो पाता। अभाव का तो कोई प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

मगर आज यहाँ मनुष्यों में पुण्य की कमी और पाप की अधिकता है। इसी कारण उन्हें भाँति-भाँति के कष्ट उठाने पड़ते हैं।

युगलिया लघुकर्मी होते है। पुण्य के प्रताप से उनके सिर के बाल भी बहुत मुलायम होते हैं। यहाँ तो कइयों के बाल ऐसे कठोर होते हैं मानो शूकर के बाल हों! खास तौर से युगलियों के बालक के बाल अत्यन्त मुलायम और पतले होते हैं। यही कारण है कि सागरोपम और पल्योपम का परिमाण बतलाने के लिए युगलियों के बालक के बालों को भरने का कथन किया गया है।

सागरोपम और पल्योपम का समय इतना लम्बा है कि उसे अङ्कों से समझना सम्भव नहीं है, अतएव उपमा द्वारा समझा गया है। इसी कारण उसके लिए पल्योपम और सागरोपम जैसे शब्दों का प्रयोग किया गया है।

तो पहला सुखमासुखमा आरा चार कोड़ाकोड़ी सागरोपम का होता है। कितना लम्बा काल है यह! मगर वह भी हंसते, खेलते,

कूदते, जन्मते-मरते बीतगया। उसके वाद दूसरा आरा—ज़माना—'सुखम' नाम से आया। वह भी तीन कोड़ाकोड़ी सागरोपम का था और वह भी इसी प्रकार गुजर गया। तदनन्तर तीसरा 'सुख़मदुखम' नामक दो कोड़ाकोड़ी सागरोपम का आरा आया और धीरे-धीरे वह भी समाप्त हो गया। तव .दुखमसुखम नामक चौथा ज़माना शुरू हुआ। उसमें दुःख अधिक और सुख कम रह गया। फिर भी कुछ अंशों में सुख था। वह ४२००० वर्ष कम का एक कोड़ाकोड़ी सागरोपम का काल पार हो गया। उसे भी हमने विपयवासनाओं की पूर्ति में गँवा दिया। धन-सम्पत्ति और कुटुम्व-परिवार के मोह में पड़ कर वृथा खो दिया।

उसके वाद यह पाँचवाँ आरा आया है। इसका नाम 'दुखम' है। इसमें जिधर भी देखो, दुःख ही दुःख दृष्टिगोचर होता है। सभी दुःख का अनुभव करते हैं। जिसे आप सवसे अधिक सुखी समझते हैं, उससे एकान्त में जाकर पूछिये कि क्या आप वास्तव में सुखी हैं? वह यदि प्रामाणिक है तो यही कहेगा कि—काहे का सुख है भाई! चारों ओर से दुःख ने घेर रक्खा है। कदाचित् वह यह भी कह देगा—मुझ से तो गटर के कीड़े को कहीं अधिक सुख है। कवि ने कितना सुन्दर चित्रण किया है संसार का—

किसी का भाई वैरी है, किसी की नार कलिहारी है।
कोई विन नार व्याकुल है, कोई मन मार रोता है।
फँसे दुनिया में जो मूरख, सदा नाशाद होता है।
इसे जो छोड़ देता है, वही दिल शाद होता है॥

सज्जनो! यह दुनिया दुःखों का घर है। किसी को कोई दुख है तो किसी को किसी वात का दुःख है। किसी का भाई ही वैरी

बना हुआ है। अपने भाई को देख कर उसकी आँखों में खून टपकने लगता है! किसी का भाई ठीक है तो स्त्री कलहकारिणी है; बात-बात में झगड़ा करने पर उतारू हो जाती है। पति घर में रोटी जीमने आता है तो कहने लगती है—तुम्हारी टांगें जलाऊँ चूल्हे में या सिर ? अभी तक लकड़ियाँ भी लेकर नहीं आये। रसोई बनाऊँ तो काहे से बनाऊँ ? इस प्रकार श्रीमती जी फुलझड़ियाँ छोड़ने लगती है, किन्तु मीठे शब्दों से काम नहीं लेती। और भी कहा है—

दाल तो चोखी कर राखी,
बीच भूंड और बीच ही माखी।
सब से पहले उसने चाखी,
लीजे मुख में डारी।
जिसके घर कलिहारी नारी,
शूली से दुख भारी।

सज्जनो! जगदम्बा भी श्रीमान् जी को ऐसी मिली पूर्व जन्म में पुण्य में कमी रह जाने से कि उसने दाल तो इतनी बढ़िया बना दी कि जिसके बीच में मक्खी और भूंड तैरते हैं।

किन्तु हमें तस्वीर के दोनों पहलू देखने चाहिये। जहाँ कलह-मूर्ति स्त्री से पुरुष दुखी है वहाँ एक पतिव्रता सन्नारी भी दुराचारी, दुर्व्यसनी पति से दुखी है। वह वेश्याओं के घर पड़ा रहता है, शराब पीता है और घर में बाल-बच्चे भूखे बिलबिलाते हैं। वह अपनी जिम्मेदारी को नहीं समझता। अपने ही ऐश-आराम में मस्त रहता है। जिसका विवाह हो चुका है वह तो इस प्रकार दुखी है और जिसका विवाह नहीं हुआ वह विवाह के लिए झूरता है।

सोचता है—हाय, मैं दुनिया से खाली हाथ ही चला जाऊँगा। अरे दुनिया के लोगो ! जरा गहराई से विचार तो करो कि—

अगर दुनिया में सुख होता तो तीर्थंकर नहीं तजते।
विना संसार के त्यागे, नहीं आराम होता है ॥

भाइयो ! संसार की मृगतृष्णा को त्यागे विना कदापि सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती।

इस संसार में और फिर इस दुखम आरे में तो दुःख ही दुःख है। किसी को पुत्र की प्राप्ति नहीं हुई तो उसे पुत्रहीनता का दुःख है। किसी को पुत्र हुआ किन्तु कुपूत हो गया या मर गया तो उसे और अधिक दुःख हो गया; क्योंकि पुत्र की अविनीतता और मृत्यु वड़ा भारी दुःख है। जो पुत्र माता-पिता को गालियाँ देता और मारता है, ऐसी सन्तान के होने से भी क्या लाभ है ?

तो यह दुखम आरा है और इसे प्रारम्भ हुए अभी २५०० के करीव वर्ष हुए हैं। शेष समय भी जैसे-तैसे गुज़र जाएगा। मगर १८॥ हजार वर्षों के वाद आने वाला आरा तो दुखमादुखमा है। उस समय अन्न तो ढूंढे भी नहीं मिलेगा और दुनिया की हालत अत्यन्त नाज़ुक हो जाएगी। उस समय प्रलय सा मच जाएगा। सज्जनो ! अभी तो आप फिर भी भाग्यशाली हैं। अभी तो आत्म-साधना के वहुत साधन हैं। इस समय चेत गए और अपने जीवन को सुधार सके तो वेड़ा पार हो सकता है।

इस प्रकार इस जीव ने अनन्त-अनन्त कालचक्र पूरे कर दिये, मगर अभी तक आत्मोत्थान न कर सका। सव मिल कर दस कोड़ा-कोड़ी सागरोपम का यह अवसर्पिणी काल है और इतना हो उत्स-

र्पिणी काल है। दोनों मिल कर वीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम का एक कालचक्र होता है। अनन्त-अनन्त कालचक्र जब व्यतीत हो जाते हैं तव एक पुद्‌गलपरावर्तन होता है। पुद्‌गलपरावर्तन के भी सूक्ष्म और वाहर आदि के भेद से अनेक भेद होते हैं।

सज्जनो! ऐसे-ऐसे अनन्त पुद्‌गलपरावर्तन हमने पूरे कर दिये और जन्मते-मरते रहे, परन्तु आत्मा को सुधारने और उठाने का कार्य नहीं किया। मगर अव भी अवसर है। इसका सदुपयोग कर लेने से भी काम वन सकता है। अगर यह वाजी हाथ से निकल गई तो फिर कुछ होने वाला नहीं है। अतएव वूझो, भाइयो! वूझो और शीघ्र सचेत हो जाओ।

मगर जो लोभ में अन्धा हो रहा है, वह कैसे वूझेगा? उसे समोचीन मार्ग कैसे सूझेगा? अरे, भाई भाई को, पुत्र पिता को, पिता पुत्र को और मित्र मित्र को लोभ के वशीभूत हो कर जान से मार देता है। यह लोभी सब गुणों का नाश कर देता है। आज लोभ ने मित्र की मित्रता, पुत्र का पुत्रत्व, पिता का पितृत्व, भाई का भ्रातृत्व और माता का मातृत्व नष्ट कर दिया है। वह लोभ के वश छिप-छिप कर पाप करता है। किन्तु याद रखना, पाप का भंडा फूट कर ही रहेगा। मनुष्य कितना ही छिप कर पाप करे, मगर पाप छिपा नहीं रह सकता। प्रकट हो ही जाता है।

एक समय की वात है कि दो मित्र परदेश में धन कमाने निकले। एक का नाम वामदेव और दूसरे का नाम रूपदेव था। परदेश जाकर दोनों ने भागीदारी में व्यापार किया। लाभान्तराय के टूटने से उन्हें व्यापार में लाभ ही लाभ होता गया, यहाँ तक की दोनों ने एक-एक लाख मोहरें कमा लीं। पुण्य का उदय था तो कमा

लिया, अशुभ कर्म का उदय होता तो कुछ भी न मिलता। कहा है—

नर भाग्य बिना फूटो कौड़ी न लाया।

सज्जनो ! यह मनुष्य मद्रास, कलकत्ता, वम्बई, दिल्ली आदि देश—विदेशों में फिर आया, वहाँ व्यापार भी किया, पुरुषार्थ करने में कुछ कसर न रक्खी, मगर जैसे फटे हाल गया था, वैसे ही वापिस आ गया।

तो यह सब अपनी-अपनी पुण्याई का खेल है। जिसने पूर्व जन्म में, मुक्त हस्त से, उदारतापूर्वक दान की महिमा समझ कर दान दिया है, उसे रेत में हाथ डालने पर भी सोना मिल जाता है। उन दोनों मित्रों ने एक-एक लाख मोहरें कमा लेने के पश्चात् विचार किया कि घर छोड़े वहुत समय हो चुका है तो अब घर चल कर माता, पिता, स्त्री और वालवच्चों को सँभालना चाहिए। इस प्रकार विचार कर वे दोनों कमाई हुई मोहरें लेकर रवाना हुए।

पहले ज़माने में रेल, मोटर, हवाई जहाज आदि साधन न होने के कारण आजकल की तरह यात्रा सुगम नहीं थी। पैदल या वैलगाड़ियों से या ऊँटों—घोड़ों से लम्बे समय में यात्रा पूरी करनी पड़ती थी। परन्तु आज विज्ञान ने इतनी तरक्की कर ली है कि गत वर्ष दिल्ली में जो प्रदर्शिनी हुई थी, उसमें एक ऐसी भी मशीन थी जिसमें रूस की रोज की सारी कार्यवाई छप कर सामने आ जाती थी।

आज की दुनिया मानो सुकुड़कर बहुत छोटी सी हो गई है। आज तो साधनों की इतनी बहुलता है कि जिनसे मनुष्य यहाँ बैठा-

बैठा ही दूर देशों से सम्पर्क कायम कर सकता है। पहले तो एक मनुष्य को दूसरे का पता लगाना भी मुश्किल होता था और आज हजारों कोसों पर बैठे हुए अपने मित्र या सम्बन्धी से बातचीत की जा सकती है और क्षेम-कुशल पूछी जा सकती है।

तो वे दोनों मित्र किसी सार्थ-काफले के साथ अपने घर की ओर वापिस लौट रहे थे। जब उनका गाँव कुछ ही कोसों की दूरी पर रह गया तो उन्होंने काफला छोड़ दिया और अपने गाँव जाने वाला रास्ता पकड़ लिया। चलते-चलते दोनों ने रात्रि में एक वृक्ष के नीचे विश्राम किया।

रूपदेव ने वामदेव से कहा—तुम सो जाओ। मैं जाग कर पहरा देता रहूँगा। चार घण्टे बाद तुम्हें जगा दूँगा। तब तुम पहरा देना और मैं सो जाऊँगा।

वामदेव सो गया। थकावट के कारण वामदेव को गहरी नींद आ गई। उसे अपने मित्र पर पूरा विश्वास भी था, अतएव वह निश्चिन्त था। मन में कोई शंका नहीं थी।

इधर रूपदेव पहरा देने के लिए बैठ गया। बैठे-बैठे उसके मन में शैतान ने प्रवेश किया, पाप ने आकर उसके दिमाग पर कब्जा जमा लिया। वह सोचने लगा—एक लाख मोहरें मेरे पास हैं और इतनी ही इस वामदेव के पास हैं। अगर मैं वामदेव को खत्म कर दूं तो सहज ही मेरे पास दुगुनी अर्थात् दो लाख मोहरें हो जाएँ।

इस प्रकार पापपूर्ण उत्कट भावना उत्पन्न होने पर लोभान्ध होकर वह छुरा लेकर वामदेव की छाती पर जा बैठा। छाती पर बैठते ही वामदेव की नींद खुल गई। उसने देखा—मेरा मित्र ही

छुरा लेकर मेरी छाती पर चढ़ बैठा है। तव उसने कहा—मित्र, यह क्या करते हो ?

रूपदेव—मैं क्या करने जा रहा हूँ, यह तुम समझ गये हो। मैं तुम्हें समाप्त कर दूँगा।

वामदेव—मित्र, हम दोनों साथ-साथ खेले-कूदे, बड़े हुए और साथ-साथ कमाई करके घर लौट रहे हैं। फिर भी तू मेरे साथ विश्वासघात करने पर उतारू हो गया है ? भाई मैंने तेरा क्या विगाड़ा है ? क्या पिछले जन्म का कोई वदला ले रहा है ? क्यों मानवता का दिवाला निकाल रहा है ? क्यों दानव वनता है ? ज़रा सोच—विचार कर तो देख ! कभी पछताना पड़ेगा भाई !

रूपदेव—मुझे मानवता और मैत्री नहीं चाहिए; तेरी लाख मोहरें चाहिए।

वामदेव—मोहरें भले ही ले ले। ये सव तेरी हैं। मैं किसी पर यह वात प्रकट नहीं करूँगा, किन्तु मुझ पर दया कर। मेरे प्राण वचने दो और मुझे अपने माता-पिता तथा बालवच्चों से मिलने दे। वे मुझे न देख कर रो रो कर अन्धे हो जाएँगे।

मगर रूपदेव के सिर पर पाप का भूत सवार हो चुका था। अतएव उसे शुद्ध हृदय से कही गई ये वातें शंकास्पद प्रतीत हुई। उसने सोचा—यदि वामदेव जीवित रह गया तो मेरे पाप का भंडा फूटे विना नहीं रहेगा। इस प्रकार सोच कर उसने मित्र की प्रार्थना ठुकरा दी और उसकी छाती में छुरा भौंक ही दिया।

रूपदेव मित्र का काम तमाम करके, उसे एक गड्ढे में डाल कर तथा दो लाख मोहरें लेकर रवाना हुआ।

मरने से पहले वामदेव ने रूपदेव से प्रार्थना की थी—मित्र, यदि मेरे प्राण लिए विना तुझे सन्तोप नहीं हो सकता; किन्तु घर वालों के सन्तोष के लिए मैं चार अक्षर लिख देता हूँ। वह ले जा कर उन्हें दे देना।

रूपदेव ने यह स्वीकार करते हुए कहा—हाँ, यह तो मैं ज़रूर कर दूँगा।

वामदेव ने चार अक्षर लिख दिये—वा—रू—घो—त्या।

रूपदेव दो लाख मोहरें लेकर अपने घर आ गया। वामदेव की पत्नी को यह समाचार मिला तो वह उसके घर पहुँची। उसने पूछा—आपके साथी क्यों नहीं आये ?

रूपदेव—भाभो, उन्होंने तो वड़ा लम्बा-चौड़ा कारवार वढ़ा लिया है। वे वहुत दिनों वाद आएँगे। हाँ, उन्होंने यह एक छोटा-सा पर्चा जरूर लिख कर दे दिया है और कह दिया है—इसे घर ले जा कर दे देना।

यह कह कर रूपदेव ने वह चार अक्षरों का पर्चा वामदेव की पत्नी को दे दिया। पर्चा लेकर वह घर गई। घरवालों ने उसे पढ़ कर समझने की कोशिश की पर वे समझ न सके। सिर्फ चार ही अक्षर थे और एक का दूसरे के साथ कुछ भी सम्वन्ध मालूम नहीं होता था।

वामदेव की पत्नी वहुत होशियार थी। उसे वहम आ गया कि हो न हो, दाल में कुछ काला है। रूपदेव आ गया और मेरे पति न आये, इसमें अवश्य ही कुछ रहस्य होना चाहिए।

वह उस पर्चे को लेकर राजा के दरवार में गई। राजा से आज्ञा लेकर उसने निवेदन किया—अन्नदाता! रूपदेव कमाई करके

परदेश से आ गया है, किन्तु मेरे पति नहीं आए। उनका पर्चा वह लाया है, जिसमें रहस्यमय ढंग से लिखे चार अक्षरों का आशय समझ में नहीं आता। अतएव मेरी विनम्र प्रार्थना है कि इस पर्चे का अर्थ दरबार के विद्वान् पण्डितों से करवाया जाय और इस अबला के प्रति न्याय किया जाए।

राजा ने वह पर्चा ले कर पण्डितों के सामने रक्खा और कहा—इसका सही अर्थ निकालना ही चाहिए।

सब पण्डितों ने बारी-बारी पर्चा पढ़ा, किन्तु अर्थ समझने में किसी का दिमाग कारगर न हुआ। यह देख कर राजा ने कहा—आप लोगों ने मेरा नमक खाया है। ऐसी-ऐसी समस्याओं को सुलझाने के लिए ही आपकी वृत्ति दी जा रही है।

यह सुन कर पण्डित चिन्तातुर हो गए। उनमें एक पण्डित अत्यन्त कुशल और आशु कवि था। उसने सोचा—सब पण्डितों की नाक कटने का प्रसंग उपस्थित हो गया है तो यह उत्तरदायित्व मुझे उठाना चाहिए। तब उसने कहा—महाराज, इसका अर्थ निकालना कोई बड़ी बात नहीं है। मैं इसका अर्थ कर दूँगा।

यह कह कर उसने पर्चा हाथ में लिया। ध्यान से पढ़ा, अक्षरों का मिलान किया और फिर स्फुरणा से अक्षरों का अर्थ निकाला। वा—से वामदेव, रू—से रूपदेव, ला—से लाख मोहरें, घो—से घोर निन्द्रा। उसने उनके अर्थ का द्योतक एक श्लोक भी तत्काल बना डाला। वह कुछ इस प्रकार का था—

वामदेवो रूपदेवः, द्वे मित्रे परस्परम्।
घोरनिन्द्रावशीभूतः, लक्षलोभेन मारितः॥

राजा को अर्थ सुनाते हुए उसने कहा—राजन्, वामदेव और रूपदेव दो मित्र होने चाहिए। रूपदेव ने घोर निन्द्रा की अवस्था में वामदेव को लाख मोहरों के लोभ में आकर मार डाला।

यह अर्थ सुन कर वामदेव की पत्नी फूट-फूट कर रोने लगी। राजा ने उसे समझाया—वहिन जो होना था सो हो गया। गई हुई वह चीज़ वापिस आने वाली नहीं है। अब तो तुम अपने वृद्ध सास-श्वसुर की सेवा करो, उनके बुढ़ापे को सुधारो और अपने होनहार बच्चों को संभालो और उनका जीवन बनाओ। उस दुष्ट को उसके घोर पाप का दण्ड अभी मिल जाएगा।

राजा ने अपने सिपाहियों को आज्ञा दी—आओ, उस पापी, विश्वासघाती और मित्रद्रोही रूपदेव को पकड़ कर ले जाओ।

उधर रूपदेव खुशियाँ मना रहा था। रंगरेलियाँ कर रहा था। वह मित्र के घात का पातक करके प्रसन्न हो रहा है परन्तु उसे पता नहीं कि पापों के प्रकट होने में देर कदाचित् हो जाए पर अंधेर नहीं हो सकता।

सज्जनो! दूसरों को दुःख देने से अगर सुख मिलता हो तो फिर अच्छे कर्म करने की आवश्यकता ही नहीं रह जाए?

हाँ, तो सिपाही रूपदेव के घर गए और मुश्कें बांध कर राजदरबार में लाये। राजा ने कहा—उस पर्चे का अर्थ निकाल लिया गया है।

यह सुनते ही रूपदेव का चेहरा फक् हो गया। भय उसकी आँखों में तैरने लगा। निगाह नीची हो गई।

राजा को यह परिवर्तन देख कर विश्वास हो गया कि रूपदेव वास्तव में पापी है। तब राजा ने प्रश्न किया—तूने वामदेव की हत्या की है ?

रूपदेव ने अपराध अस्वीकार करते हुए कहा—नहीं महाराज, मैं क्या अपने मित्र की हत्या कर सकता हूँ ?

राजा ने सिपाहियों की ओर नज़र करके कहा—यह सच नहीं कहेगा। इसे कोड़े लगाए जाएँ।

सिपाही ने कोड़े लगाने शुरू किए तो रूपदेव तिलमिला उठा। जब उससे कोड़े सहन न हो सके तो बोला—महाराज, मैं सच-सच कहे देता हूँ।

यह कह कर उसने आदि से अन्त तक की कहानी सुना दी। राजा ने वह वृत्तान्त सुन कर उस पण्डित को पर्याप्त पारितोषिक दिया और सब पण्डितों में प्रधान बना दिया। उधर रूपदेव का सारा धन मँगवा कर वामदेव की पत्नी को सौंप दिया और रूपदेव को प्राणदण्ड सुना दिया।

सज्जनो ! जो दूसरे का धन खाना चाहता था, वह अपना भी नहीं खा सका। इस कारण ज्ञानी पुरुषों का कथन है कि राग-द्वेष जीवन को मलीन बनाने वाले हैं और इनकी बदौलत जीव को भव-भव में दुःख उठाना पड़ता है। लाख मोहरों के लोभ राग ने ही रूपदेव को मित्र की हत्या के लिए प्रेरित किया और अन्त में उसी के प्राण ले लिए गए। उसके बच्चों को भी दाने-दाने के लिए मोहताज होना पड़ा। अतएव राग और द्वेष आत्मा के प्रबल शत्रु हैं। आत्मा में इन शत्रुओं पर विजय पाने की क्षमता है, शक्ति है, पर

वह उसका उपयोग नहीं करता। जब तक आत्मा अपनी शक्ति को प्रकट नहीं करेगा तब तक सच्चा सुख भी प्राप्त नहीं कर सकेगा। ऐसा समझ कर जो राग-द्वेष को दूर करते हैं और अपनी शक्ति को आत्मसाधना के लिए काम में लाते हैं, वे संसार-समुद्र से पार हो जाते हैं।

ब्यावर
२०—१०—५६

————

आत्मधन

उपस्थित महानुभावो !

कल बतलाया गया था कि आत्मा अनन्त गुणों की निधि है और उसे भीख माँगने के लिए कहीं अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं है। आत्मा के पास इतना ऐश्वर्य और इतना धन है कि दुनिया इसके पास याचना करने के लिए आवे तो भी यह उसकी पूर्त्ति कर सकती है। इस प्रकार आत्मा रंक तो नहीं, पर कृपण है। रंक तो तब होती जब इसके पास कुछ होता नहीं। मगर इसके पास सभी कुछ है, फिर भी उसे अपने उपभोग में नहीं ला रही है।

अपनी निधि को उपभोग में न लाने के दो कारण होते हैं। प्रथम यह कि उसका ज्ञान ही न हो कि इसका उपभोग किस प्रकार किया जाय और दूसरा यह कि बोध हो जाने पर भी आत्मा में इतनी उत्क्रान्ति न आई हो कि उदारतापूर्वक वह उपभोग कर सके।

तो कुछ जीव तो ऐसे होते हैं जिन्हें अपने धन का बोध ही नहीं। ऐसी स्थिति में स्वाभाविक ही है कि वे आत्मीय गुणों का उपभोग नहीं कर पाते। ऐसे अज्ञानी जीवों की संख्या अधिक है—अनन्तानन्त जीव इस कोटि में आते है। इस श्रेणी के बेचारे जीव अपने धन से आत्मिक गुणों से सर्वथा अनभिज्ञ हैं। उनकी आत्मा पर सघन अज्ञान का आवरण आया हुआ है। पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, तथा द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और

चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव इसी कोटि में आते हैं। ये जीव आत्मधन को पहचान नहीं सकते, क्योंकि इन्हें आत्मबोध के इतने साधन उपलब्ध नहीं हैं। आत्मबोध की बात तो दूर रही, उन्हें पर्याप्त शारीरिक बोध भी प्राप्त नहीं हैं।

जीव इन सब अवस्थाओं से पार होकर जब संज्ञी पंचेन्द्रिय अवस्था प्राप्त करता है, तब उसे पूरे साधन उपलब्ध होते हैं, क्योंकि इस अवस्था में पाँचों इन्द्रियाँ भी प्राप्त रहती हैं और मन भी। यद्यपि स्थावरों से आगे बढ़ कर द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय अवस्था में क्रमशः एक-एक इन्द्रिय बढ़ती जाती है, तथापि उनका ठीक तरह उपभोग नहीं हो सकता। इन्द्रियों का ठीक तरह संतुलन करने के लिए, उनसे विशिष्ट कार्य साधने के लिए और उनका पूरी तरह सदुपयोग करने के लिए मन की आवश्यकता होती है। मन ही इन्द्रियों के विज्ञान को ठीक दिशा में ले जा सकता है। मन के अभाव में एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पचेन्द्रिय तक के जीव अपनी-अपनी प्राप्त इन्द्रियों को काम लेते तो हैं, फिर भी उनमें विशिष्ट बोध की जागृति नहीं होती। उनकी इन्द्रियों में एक प्रकार की शून्यता-सी व्यापी रहती है।

पागल मनुष्य काम तो आप से अधिक कर डालता है, परन्तु उसमें विवेक का पुट नहीं होता। वह विवेक के अभाव में कदाचित् सही और कदाचित् गलत काम भी कर डालता है। दिमाग उसका ठीक तरह काम नहीं करता। यद्यपि वह आँखों से देखता है, जिह्वा से आस्वादन करता है और कानों से सुनता है, फिर भी उसमें विशिष्ट बोध नहीं है। उचित कार्यकुशलता नहीं है। इस प्रकार असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के प्राणी इन्द्रियों का उपयोग तो करते हैं, मगर उसी प्रकार जैसे शराबी शराब के नशे में करता है।

ऐसे जीवों को विवेक प्राप्त नहीं। वे नहीं जानते कि मेरे कार्य का परिणाम हितकर होगा या अहितकर ? जो हो गया सो हो गया। इस प्रकार असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक की श्रेणी के प्राणी अपने आत्मधन को नहीं पहचानते। ये असंज्ञी जीव ज्यादा पुण्योपार्जन नहीं कर सकते तो अधिक पाप का भी उपार्जन नहीं कर सकते। यही कारण है कि वे यदि नरक में जाते हैं तो प्रथम नरक तक ही जाते है और यदि देवगति में जाएँ तो भवनपति या वाणव्यन्तर देव ही होते हैं। अधिक से अधिक पाप और पुण्य करने के लिए मन की आवश्यकता है। मन के अभाव में पुण्य-पापकर्म में गाढ़ापन और विशिष्ट रस नहीं आता। अतएव असंज्ञी जीव न तो ज्योतिष्क वैमानिक देव हो सकते हैं और न दूसरे से सातवें नरक में ही जा सकते हैं।

सज्जनो ! जब उन असंज्ञी जीवों में उच्च कोटि की देवगति में जाने का भी सामर्थ्य नहीं विकसित हो पाता तो आप समझ सकते हैं कि मोक्ष में जाना तो संभव ही कैसे हो सकता है ? मोक्ष तो उन देवलोकों से भी बहुत ऊँचा है और उसके लिए कठिन और विशिष्ट साधना करनी पड़ती है।

तो आशय यह कि अनन्त जीवों को आत्मधन का बोध नहीं है। एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के जीव आत्मिक धन के बोध से बिलकुल वंचित है। कदाचित् पुण्ययोग से जीव संज्ञी पंचेन्द्रिय भी बन गया तो उसमें भी दो भेद हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त। जो संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त अवस्था में है उन्हें भी पूरा प्राप्त नहीं होता। और कदाचित् पर्याप्त अवस्था मिल जाने पर भी परमाधामी देवयोनि में जन्म हो गया तो भी क्या लाभ हुआ ?

है कि श्रावक तिर्यच भी हो सकते हैं। इस से यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मनुष्य श्रावकों से तिर्यञ्च श्रावकों का समूह बड़ा है।

तिर्यञ्च श्रावक एक, दो से लेकर ग्यारह व्रतों तक के धारक हो सकते हैं। केवल बारहवाँ व्रत ही ऐसा है, जिसका वे पालन नहीं कर सकते, क्योंकि उनके पास 'असणं, पाणं, खाइयं, साइयं' आदि साधन नहीं होते। अलवत्ता, वे दलाली अवश्य कर सकते हैं, जैसे वलभद्र मुनि को हिरण ने जोगवाई लगाई थी। उसने खड़े-खड़े भावना भाई कि—हाय, मैं अपने हाथ से महात्मा को दान न दे सका, क्योंकि मेरे ऐसे साधन नहीं है।

तो मैं कह रहा था कि देवताओं को यद्यपि बड़े सुखसाधन प्राप्त हैं, फिर भी उनके स्वर्गीय सुखों से आत्मिक सुख का दर्जा बहुत ऊँचा है। स्वर्गीय सुख कितनी ही उच्चकोटि के क्यों न प्रतीत हों, अन्ततः वे नाशवान् हैं। स्थायी नहीं है। परावलम्वी हैं, स्वावलम्वी नहीं हैं और आत्मा को मलिन बनाने वाले हैं।

आयु पूर्ण होने पर देवता को जब स्वर्ग से च्युत होना पड़ता है तो छः महीने पूर्व ही उसे पता चल जाता है। पता चलते ही उसे कितनी मार्मिक वेदना होती होगी, इसकी कल्पना करना भी कठिन है। उस समय उसे राग-रंग और नाटक आदि फीके लगने लगते हैं और केवल मृत्यु का भयावना चित्र ही उनके नेत्रों के सामने झूलता रहता है। भविष्य की अपावन स्थिति का विचार करके उनको मार्मिक व्यथा होती है। उनको जब रत्नों की ज्योति फीकी दिखाई देने लगती है और गले की माला मुरझाने लगती है तो उस दुःख

की सीमा नहीं रहती। यद्यपि न वहाँ के रत्न फीके पड़ते हैं और न माला मुरझाती है, पर उनकी दृष्टि में ही ऐसा विकार उत्पन्न हो जाता है। छः महीने पूर्व ही नोटिस जारी हो जाता है—कि सावधान! अब तुम्हें यहाँ से कूच करना होगा। तुमने पल्योपम और सागरोपम की लम्बी आयु भोग ली है और जो पुण्य-पूजी संचित कर के लाये थे, वह समाप्त हो चुकी है। अब यहाँ रहने का तुम्हें अधिकार नहीं रहा है। किराये का मकान किराया न चुका सकने पर जैसे विवशतापूर्वक खाली करना पड़ता है, उसी प्रकार यथासमय स्वर्गविमान भी त्याग देना पड़ता है। कहा भी है—

ऐ मुसाफिर क्यों पसरता है यहाँ?
है किराये पर मिला तुमको मकां,
कोठरी खाली करा ली जायगी॥
जब तेरी डोली निकाली जायगी॥

कर्म का आदेश अनुल्लंघ्य है। उसे कोई मिटा नहीं सकता। राजा का, वजीर का, सेनापति का हुक्म तो फिर भी टल सकता है, मगर कर्म की आज्ञा का पूरा-पूरा पालन होता ही है। चक्रवर्त्ती हो, इन्द्र हो, अहमिन्द्र हो या फिर तीर्थंकर भगवान् भी क्यों न हों, कर्म के शासन को टाल नहीं सकते।

तो जब देवताओं को छः महीना पहले ही रत्नों की ज्योति फीकी दिखने लगती है और माला मुरझाई हुई नजर आने लगती है तो वे मन में सोच लेते हैं कि—अब हमें मर जाना होगा, मकान खाली करना पड़ेगा। अब किसी प्रकार यहाँ रहना संभव नहीं होगा।

सम्यग्दृष्टि देव विचार करता है कि यहाँ से च्यवन करके मैं कहाँ जाऊँगा। वह समझ लेता है कि मुझे माता के गर्भ में प्रवेश

उन्हें नारकीय जीवों की मारकाट करने से ही फुर्सत नहीं मिलती। नारक जीवों को दुःख ही देते रहते हैं और इसी प्रकार उनका सारा जीवन व्यतीत हो जाता है। इसी प्रकार नारक जीवों को भी पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय अवस्था पर्याप्त हो जाती है। मगर वे इतने घोर दुःख में अपना लम्बा जीवन व्यतीत करते हैं कि क्षण भर के लिए भी आत्माभिमुख नहीं हो पाते। तीर्थंकर भगवान् के जन्मादि के समय थोड़ी देर के लिए चैन मिलती भी है तो भी पूरी नहीं मिलती, क्योंकि उस समय भी क्षेत्रस्वभावजनित वेदना उन्हें सताती रहती है। उससे किसी समय उन्हें छुटकारा नहीं मिलता। अतएव वे दुःखी जीव धर्माराधना नहीं कर सकते।

नरक गति से वच कर कदाचित् जीव देवगति में चला जाय और पंचेन्द्रिय संज्ञी पर्याप्त दशा प्राप्त कर ले तो धर्मसाधना से वंचित रहता है, क्योंकि देव अव्रती होते हैं। वे अधिक से अधिक चार गुणस्थान ही प्राप्त कर पाते हैं। आत्मसाधना की चौदह श्रेणियों में से उन्हें चार ही श्रेणियाँ प्राप्त हो सकती हैं। इनसे वढ़ने की शक्ति देवों में नहीं होती। देवगति में मिथ्यात्वी हैं सास्वादन सम्यग्दृष्टि हैं और मिश्रदृष्टि भी हैं। चौथा गुणस्थान अविरत सम्यग्दृष्टियों का भी है। नारकों, तिर्यञ्चों और देवों में असंख्यात मिश्रदृष्टि हैं। मनुष्यों में मिश्रदृष्टि संख्यात हैं। यद्यपि संमूर्छिम मनुष्य असंख्यात हैं, किन्तु वे एकान्ततः मिथ्यादृष्टि हैं।

मिश्रदृष्टि वालों के विचार दोनों तरफ ढुलकते रहते हैं—कभी सम्यक्त्व की तरफ तो कभी मिथ्यात्व की तरफ झुकते हैं। कोरे चनों की रोटी होती है तो वनने के थोड़ी ही देर वाद ऐसी अकड़ जाती है जैसे मुर्दे का शरीर हो। किन्तु उसमें थोड़ा गेहूँ का

आटा मिला हो तो वह कुछ नरम रहता है। असंज्ञी जीव तो एकान्त चने की रोटी के समान मिथ्यात्व में ही पड़े रहते हैं। पर मिश्रदृष्टि में उससे बहुत कुछ अन्तर पड़ जाता है। यहाँ चनों में गेहूँ का आटा मिल गया है।

ज्ञानी पुरुषों का कथन है कि मिथ्यात्व अमावस्या की रात्रि है। उसमें भी बादलों की सघन घटा हो और किसी को तीसरे तहखाने में बन्द कर दिया जाय तो चारों ओर निविड़ अन्धकार होता है। मिथ्यादृष्टि की अवस्था ऐसी ही बन जाती है। उनकी आत्मा में महा अन्धकार छाया रहता है और थोड़ी-सी देर के लिए उन्हें आत्मभाव रूपी सूर्य के दर्शन नहीं होते।

तो भद्र पुरुषो! यह जीव कदाचित् पुण्ययोग से देव भी बन गया तो भी इसे अधिक से अधिक चार ही गुणस्थान प्राप्त हो सकते हैं। इस दृष्टि से तिर्यंच पशुओं का दर्जा कुछ ऊँचा है, क्योंकि उनमें कोई पाँचवाँ गुणस्थान भी पा सकता है।

पाँचवें गुणस्थान में देशविरति चारित्र की प्राप्ति होती है, क्योंकि इस चारित्र का बाधक अप्रत्याख्यानावरण कषाय है और पाँचवें गुणस्थान में उदय नहीं रहता। इस दृष्टि से तिर्यंच भी देवों से ऊँचे हो जाते हैं। यद्यपि भौतिक सुखों की दृष्टि से देवों का स्थान बहुत ऊँचा है किन्तु आध्यात्मिक दुनिया में भौतिक पदार्थों का कोई महत्त्व नहीं स्वीकार किया जाता।

संज्ञी पंचेन्द्रिय मनुष्यों से श्रावक असंख्यातगुणा अधिक हैं। अढ़ाई द्वीप के सभी समयग्दृष्टि, मिश्रदृष्टि और मिथ्यादृष्टि मनुष्यों की संख्या से श्रावक असंख्यातगुणा अधिक हैं। इसका कारण यही

करना होगा और मल-मूत्र की कोठरी में चमगीदड़ की तरह उल्टा लटकना होगा। वहाँ मेरे ऊपर से मल-मूत्र निकलेगा।

किन्तु याद रखना प्राणी! जब तक कर्म साथ में लगे हैं, उनका फल भोगना ही पड़ेगा। आज मनुष्य मनुष्य से घृणा करता है। पास में बैठने से बदबू आती है। दूसरों के शरीर को हाड़-मांस का बना गन्दा समझता है और अपने शरीर को सोने-चान्दी के पतरों से बना मानता है। मगर अभिमान करने वालों का काँटा बदलते देर नहीं लगती।

इस प्रकार देवता भी अपने राग-रंग भूल जाता है और समय पर देवलोक से संच्यवन हो जाता है। देव मर कर देव भी नहीं होते और नारक भी नहीं होते। वे तिर्यञ्च या मनुष्यगति में ही उत्पन्न होते हैं। देव पुनः देव बनने के योग्य कर्म नहीं कर सकते। ऐसे कर्म या तो मनुष्यगति में हो सकते हैं या तिर्यंच गति में। देवों को जब देव बनने की ही साधना प्राप्त नहीं है तो वे मोक्ष तो पा ही कैसे सकते हैं!

मनुष्यगति ही ऐसा जंकशन है जहाँ से सब लाइनों पर गाड़ियाँ रवाना होती हैं। यहाँ पाँचों गतियों में से प्रत्येक गति का टिकट खरीदा जा सकता है। नरक में जाने को सामग्री यहाँ जुटाई जाती है, तिर्यंच या मनुष्य होने योग्य कर्म भी यहाँ किये जा सकते हैं और देवगति पाने की साधना भी की जा सकती है। पंचमगति मोक्ष में जाने के लिए आठ कर्मों का नाश भी इसी मनुष्यगति में किया जा सकता है।

कर्म के उदय से मिलने वाली गति सीमित समय के लिए होती है, वह नाशशील होती है। इसी प्रकार कर्मोदय से प्राप्त होने

वाली प्रत्येक वस्तु का काल निर्धारित होता है, क्योंकि कर्मों का फल परिमित समय तक ही भोगा जाता है। कोई भी कर्म अनन्त काल तक न उदित रह सकता है और न फल ही दे सकता है। इसी कारण एक गति कर्म का फल भोग लेने के पश्चात् दूसरी गति में जाना पड़ता है। किन्तु पंचमगति में कर्मो का उदय नहीं है। इस कारण उस गति में जाना तो है पर लौट कर आना नहीं है। उस गति को प्राप्त करने के लिए साधना की आवश्यकता है और वह जप, तप, संयम ब्रह्मचर्य ध्यान स्वाध्याय आदि साधना इस मनुष्य जन्म में ही हो सकती है। अन्य किसी गति में नहीं। मगर क्या किया जाय ! प्राणी इतना विकासशील होने पर भी कुँभकर्णी नींद में सोया पड़ा है। वह नहीं समझता कि यहीं आकर मैं जन्म-जन्मान्तर को दरिद्रता दूर कर सकता हूँ।

सज्जनो ! साहूकार के पास जाकर भी दिवाला दूर न हुआ तो क्या दिवालिया के पास आकर दूर करोगे ? यहाँ अच्छे से अच्छे साधन मौजूद हैं. किन्तु आत्मनिष्ठा होनी चाहिए।

आत्मा जो चाहे वही मनोरथ पूरा कर सकती है, मगर होना चाहिए असली जती-सती। नकलीपन से मनोरथ की सिद्धि नहीं होती। यह विशेषता तो असली जती-सती में ही होतो है।

किसी समय एक वाई धान कूट रही थी। धान को सौराष्ट्र में डांगर कहते हैं, मगर पंजाब में पशु को डांगर कहते हैं। हम सौराष्ट्र में गये तो एक घर में सुना—'डांगर रांधेलो छे।' यह सुन कर पहले-पहल मुझे बड़ा विस्मय हुआ कि क्या यहाँ राक्षस ही इकट्ठ हो गये हैं जो . डांगर अर्थात् पशु भी रांधते हैं। फिर पता चला कि यहाँ चावल को डांगर कहते हैं।

हाँ, तो वह पतिव्रता वाई डांगर अर्थात् शान्तिकूट रही थी। जब से उसने होश सँभाला तभी से मन-वचन-काय से ब्रह्मचर्य का पालन किया था और वह पति की आज्ञा का पूरी तरह पालन किया करती थी। वह घर का काम-काज तो करती ही थी, साथ ही पति के काम में भी हाथ बँटाया करती थी। यह नहीं कि खाया पीया और रुई के बोरे की तरह मस्त हो कर पड़ जाय। वह पति के सुख में सुख और दुःख में दुःख मानती थी।

मगर आज क्या स्थिति है? भले पति के नाम वारंट हो मगर श्रीमती जी को तो गजरा गोखरू और सोने का कंदोरा ही चाहिए। किन्तु अरी भद्रा! जरा घर की स्थिति का तो विचार कर। जब तेरा पति कमजोर स्थिति में हो, उसकी आर्थिक अवस्था ठीक न हो और कोई स्त्री शृंगार की वस्तुओं की फरमाइश करे तो समझना चाहिए कि वह स्त्री नहीं भूतनी है। भूतनी तो कदाचित् मंत्र-तंत्र के बल से उतर जाएगा पिण्ड छोड़ देगी, परन्तु वह तो मंत्र-तंत्र से भी नहीं उतरेगी। अरी, तुझे तो अर्धांगिनी कहते हैं। तू पति का आधा अंग है। जब आधा अंग किसी प्रकार की कठिनाई में हो तो शेष आधा अंग कैसे कठिनाई नहीं महसूस करेगा? एक अंग दुखी हो तो दूसरा अंग शृंगार और विलास की इच्छा नहीं कर सकता। अगर ऐसा करता है तो माना जाएगा कि वह उसका अंग ही नहीं है, अर्धांगिनी को पति का बोझ अपना ही बोझ समझना चाहिए। उसे गृहस्थी के भार को बाँटना चाहिए न कि असह्य भार बन कर पति की कमर को ही तोड़ डालने का प्रयत्न करना चाहिए। आदर्श पत्नी पति को अपनी ओर से चिन्तित नहीं होने देती और अन्य कारणों से उत्पन्न हुई चिन्ता को कम करने का प्रयत्न करती है।

घर में हो तो पति से माँगने में ऐतराज नहीं। किन्तु पति की हालत नाजुक हो तब उसे अपनी फरमाइशों से परेशान करना महान् पाप है। ऐसी स्थिति में की हुई अठाइयां भी काम आने वाली नहीं हैं। पत्नी के लिए यह शोभा की बात नहीं कि उसके निमित्तसे पति को सदैव आर्त्तध्यान में पड़ा रहना पड़े।

देखो, सीता ने क्या किया था? राम को वनवास करना था। वहाँ सीता और लक्ष्मण की आवश्यकता नहीं थी किन्तु बात यह है कि सच्चा भाई, भाई से और पत्नी पति से जुदा नहीं रहता। सच्चे हितैषी ऐसा ही किया करते है।

सज्जनो! मनुष्य का जीवन बहुत ऊँचा है। यह सर्वोपरि फर्म है। इस फर्म को पा कर भी यदि कोई अपना दिवाला दूर न कर सका तो वह सदैव दिवालिया ही रहने वाला है। यहाँ जो आए और जिन्होंने समझदारी से काम लिया, उनके दिवाले दूर हो गए। तीन काल में भी जो दिवाला दूर होने वाला न था, वह भी दूर हो गया।

हाँ, तो वह पतिव्रता धान कूट रही थी। वह पति की आज्ञा-कारिणी थी। किसी भी स्थिति में क्यों न हो, पति की आज्ञा होते ही सर्वप्रथम उसका पालन किया करती थी।

किन्तु आज तो कई बहिनें बैठी-बैठी आज्ञा चलाती है और पति को बन्दर की तरह नाच नचाती हैं।

दूसरी ओर पति भी पत्नी की अनुचित उपेक्षा करते है। पति का भी कर्तव्य है कि वह पत्नी को ठीक रूप में रक्खे और उसे गृहलक्ष्मी समझ कर योग्य सत्कार करे। जहाँ पति-पत्नी परस्पर

प्रेम से रहते हैं, एक दूसरे की सुविधा-असुविध ।का ख्याल रखते हैं, स्वयं कठिनाई उठा कर भी दूसरे को सुखी रखने का प्रयत्न करते हैं; परस्पर आदरभाव रखते हैं और अपने-अपने धर्म का समुचित रूप से पालन करते हैं, वहाँ स्वर्ग उतर आता है। ऐसे दम्पता स्वर्गीय सुख का उपभोग करते हैं और अपने जीवन को सफल बनाते हैं।

इसके विपरीत, जिस घर में पति-पत्नी में प्रेम नहीं, सहानुभूति नहीं, कर्त्तव्यनिष्ठा नहीं, वे करोड़पति होकर भी नारकीय जीवन यापन करते हैं। उनका इह-परलोक दोनों बिगड़ जाते हैं।

पति को प्यास लगीं और उसने पत्नी से पानी लाने के लिए कहा। ज्यों ही पत्नी ने आवाज़ सुनी, हाथ में ऊँचा उठाया हुआ मूसल ऊपर ही छोड़ दिया और पति को पानी ला कर दिया। उसके पतिव्रतधर्म के प्रभाव से उतनी देर तक मूसल ऊपर ही टिका रहा।

आज सोचेंगे—यह क्या चीज़ है? सज्जनो! यह तो एक मामूली चीज़ है। सतियों के सत्य के प्रभाव से आसमान में पहाड़ तक खड़े किए जा सकते हैं। सतीत्व में असीम, अचिन्त्य और अतर्क्य शक्ति है। आवश्यकता है श्रद्धा और निष्ठा की।

सज्जनो! शीलवान् के प्रभाव से शेर भी बकरी के समान बन जाता है। तीव्र गति से बहती हुई महानदी भी मार्ग दे देती है। आकाश में सिर ऊँचा किये खड़े बड़े-बड़े पहाड़ भी टोकरी के समान बन जाते हैं। सांप फूलों की माला का रूप धारण कर लेता है। विष अमृत के रूप में परिणत हो जाता है। कुंए का पानी चालनी के द्वारा निकाला जा सकता है।

शास्त्रकारों ने शील की बड़ी महिमा गाई है। भगवान् को २८ उपमाएँ दी गई हैं जब कि शीलवान् को ३२ उपमाएँ दी गई हैं।

तो उस पतिव्रता का यह चमत्कार एक कुटिला पड़ौसिन नें देख लिया। वह अपनी कुटिलता के कारण जल-भुन कर राख हो गई कि—अरे, इसकी आज्ञा से तो मूसल भी ज्यों का त्यों आकाश में ही खड़ा रह जाता है!

वह उस पतिव्रता के पास पहुँची और कहने लगी—बहिन, बताओ, यह सिद्धि कैसे तुम्हें प्राप्त हो गई?

पतिव्रता ने कहा—बहिन, यह पतिव्रत धर्म का प्रताप है और कुछ भी नहीं। पतिव्रता को इस प्रकार की शक्तियाँ स्वतः अनायास ही प्राप्त हो जाती हैं। मैं प्रातःकाल पति के उठने से पहले ही उठ जाती हूँ। घर का कामकाज करती हूँ और दोपहर में पति के काम में हाथ बँटाती हूँ और उनकी आज्ञा का पालन करना अपना परम कर्त्तव्य समझती हूँ। शील संतोष से अपना जीवन व्यतीत करती हूँ। इसी से मुझे यह सिद्धि अनायास ही प्राप्त हो गई है।

पड़ौसिन बोली—यह तो बड़ी अच्छी बात है। कल से मैं भी ऐसा ही किया करूँगी।

दूसरे दिन उसने जल्दी उठ घर का काम किया और अपने पतिदेव से कहा—देखो, अब तुम घर के काम को हाथ मत लगाना। सब काम मैं ही करूँगी और तुम्हारा काम भी मैं ही करूँगी।

पति ने सोचा—आज मेरे पुण्य का उदय हो गया और जागती ज्योति जगदम्बा की कृपा बरस पड़ी जो कह रही है कि

कोई काम मत करो। यह सद्बुद्धि इसे कैसे सूझी ! कैसे भी सूझी हो, अब मेरे भी सुख के दिन आ गए।

पति ने उससे कहा—नहीं भद्रा ! थोड़ा काम मैं कर लूँगा और थोड़ा तुम कर लिया करो।

वह बोली—नहीं पतिदेव, यह नहीं हो सकता कि तुम तो काम करो और मैं बैठी रहूँ।

पति की प्रसन्नता का पार न रहा। उसने सोचा—वाह, आज तो मेरी पत्नी ने कमाल कर दिया। मालूम होता है जन्म-जन्मान्तर के मेरे सारे पाप ही धुल गए।

पत्नी ने बड़ी प्रीति के साथ पति को भोजन जिमाया और कहा—अब आप आराम कर लो।

पति ने जब तक आराम किया तब तक उसने भोजन करके बर्तन साफ कर डाले। तत्पश्चात् वह पति के पास जाकर बोली—देखो जी, अब मैं धान कूटती हूँ और आप मुझ से पानी माँगना।

पत्नी ने सोचा—नकल करना ही है तो पूरी तरह करनी चाहिए !

ऋतु गर्मी की थी। उसने धान कूटना आरम्भ करने से पहले एक बार फिर याद दिला दिया—प्यास लगने लगे तो पानी ज़रूर माँगना।

पति ने सोचा—कल से आज इसमें कितना परिवर्तन हो गया है ! मेरा गला भी सूखा नहीं देखना चाहती।

देवी जी ने हाथ में मूसल लेकर दो-चार हाथ मारे कि हाँपने लगी। हमेशा रूई के बोरे की तरह जो पड़ी रहती थी! तब वह पति से बोली—ओ जी, पानी क्यों नहीं माँगते हो?

पति ने उसका मन रखने के लिए पानी माँगा-तो उसने ऊपर उठाए मूसल को ज्यों का त्यों छोड़ दिया। परिणाम यह हुआ कि मूसल सीधा उसकी खोपड़ी पर पड़ा और सिर से खून बहने लगा। वह गुस्से से आग बबूला हो गई और मूसल लेकर पति की ओर दौड़ी। बोली—अरे, तुझमें इतना भी सत्य नहीं कि यह ऊपर खड़ा रहे! मेरा तो माथा ही फूट गया!

पति डर के मारे घर से बाहर निकल कर भागा। आगे-आगे पति और पीछे-पीछे जगदम्बा दौड़ी।

लोग चकित थे। किसी ने पूछा—भाई क्या हुआ?

सेठ बोला—मुझे कुछ नहीं मालूम। सिर्फ यही जानता हूँ कि यह मूसल लेकर मेरे पीछे पड़ी है।

'आखिर कुछ तो हुआ होगा? पहले से कोई खटपट चल रही होगी!' लोगों ने पूछा।

सेठ ने कहा—इसी जगदम्बा से पूछो। यह रामामण तो आज ही आरम्भ हुई है। हम नए ही राम और सीता बने हैं।

सज्जनो! इस प्रकार नकलचीपन से काम चलने वाला नहीं है। नकली भक्तों, श्रावकों और साधुओं से समाज, जाति और संघ का काम नहीं चलेगा। असली असली और नकली नकली ही रहेगा। यों कहने से कोई सती नहीं बनती। सती को कहने की आवश्यकता नहीं होती। सतीत्व के साथ आडम्बर नहीं निभता। सतीत्व आत्मा

देना अक्ल के दिवालियों का काम है। समझदार मनुष्य को सही निर्णय करने के लिए उसके मूल स्रोत तक पहुँचना चाहिए और देखना चाहिए कि वस्तुतः-नदी का पानी गंदला है या बीच में भैंसे ने गंदला बना दिया है? बिना देखभाल किये यों ही फैसला कर लिया जाता है कि नदी का पानी ही मैला है तो यह निर्णय सही नहीं होता। जब कीचड़ से सना हुआ भैंसा तेरे पास से निकलेगा और अपनी पूंछ की फटकार से तुझ पर छींटे उड़ाएगा तब तुझे पता लग जाएगा कि वास्तविकता क्या है? अतएव पुण्यशील आत्माओ! जरा समझो विचारो। यह अनमोल जीवन यों ही निन्दा चुगली कर नष्ट करने को नहीं मिला है, बल्कि गुणी जनों की स्तुति करके मोक्ष प्राप्त करने के लिए मिला है। किसी ने कहा है—

मोक्ष सुख की इच्छा होय तो,
ममता मही बिलो जा।
जो अब मौका चूक गया तो,
खुले नरक में रोजा।
विवेकी आत्मा रे, अब तू निर्मल हो जा॥

सज्जनो! ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि असीम पुण्योदय से पापों को धोने का यह समय मिल गया है; अतएव यदि मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा हो तो आत्मा को निर्मल बना लो, अन्यथा नरक की दुस्सह यातनाओं का भागी होना पड़ेगा।

गुरुसेवा की गंगा इसमें मैल पाप सब धो जा।
भारी हो रहा बहुत दिनों से, हल्का करले बोझा।
विवेकी आत्मा रे, अब तू निर्मल हो जा॥

सज्जनो ! बड़े-बड़े अपराधी, पापी, हत्यारे और और चोर-डाकू भी गुरुसेवा की नदी में स्नान करके शुद्ध हो गए। उनके सभी पाप धुल गए और वे स्नातक बन गए। मगर क्या किया जाए ! पानी में कपड़े, मकान, बर्तन एवं शरीर को स्वच्छ कर देने की शक्ति है, किन्तु काला लोहा उससे स्वच्छ नहीं होता—उससे लोहे का कालापन नहीं धुलता। लोहा यदि उस पानी में पड़ जाए तो उस पर काठ-जंग चढ़ जाए और उसका रंग बदरंग हो जाए। उसकी तो पहले की आब भी नष्ट हो जाती है।

सज्जनो ! यह मूल्यमय समय पाप-मैल धोने का है, बढ़ाने का नहीं। आडम्बर से पापमैल नहीं धुलता, साधना से धुलता है।

वह बाबा आडम्बर करके अपनी पूजा-प्रतिष्ठा कराने लगा। भक्त लोग बड़ी मनवार के साथ उसे माल-मलीदा खिलाने लगे।

बाई जी के गुरु कभी भूखे नहीं मरते। वह अपने धनी और बाल-बच्चों को जो चीज नहीं देती, वह गुरुजी को उनके स्थान पर ले जा कर दे आती है। उस बाबा को सभी स्त्री-पुरुष साक्षात् परमहंस कहने लगे।

धीरे-धीरे रानी के कानों तक भी यह बात पहुँची। उसने परमहंस बाबा का दर्शन करके पुण्य बटोर लेने का निश्चय किया वह रथ पर आरूढ़ हो कर और उत्तम भोजन का थाल सजा कर उसके ठिकाने पर पहुँची। नकली अवधूत को नमस्कार करके रानी उसके पास बैठ गई। उस ढोंगी बाबा ने अपना सारा रंगढंग सच्चे अवधूत की तरह ही बना रक्खा था। रानी को अपने सामने बैठी देख कर वह एकदम उठा और उसकी गोद में बैठ गया।

से उद्भूत होता है और सती की आत्मा स्वयं काम किया करती है।

तो मैं कह रहा था कि जो मनुष्य विना साधना ही कार्य का फल प्राप्त करने की कुचेष्टा करता है, वह उस वाई की नाई अपना माथा फोड़ लेताहै।

सज्जनो ! याद रखिये, जो अपने आप को भक्त होने का दावा करते हैं और दूसरों को झूठा लांच्छन लगाते हैं उनके ऊपर ही उनके पाप कर्म के मूसल पड़ेंगे। उनको यमदूतों की मार सहन करनी पड़ेगी। मगर मूसल और यमदूतों की मार खाते-खाते जमाना गुज़र चुका है। कव तक यह मार खाते रहेंगे।

नकली नकली ही रहेगा और असली असली ही सावित होगा। नकली साधु या श्रावक वनने से कदापि काम नहीं चल सकता।

एक वावा जी नकली अवधूत बन गए। सनातनधर्मियों में अवधूत पदवी ऊँची समझी जाती है। उसे परमहंस भी कहते हैं। उसे किसी जाति का भी खाने-पीने का वन्धन नहीं होता। वह चमार आदि सभी के घरों में भोजन कर सकता है। उसका स्थान इतना ऊँचा समझा जाता है कि वह शरीर के मल-मूत्र को भी साफ करने की कोशिश नहीं करता। मल को भी हलुवा के समान समझता है। उसे लोग देहाभ्यास से अतीत वड़ा योगी समझते हैं।

तो वह वावाजी भी नकली अवधूत बन गए। कितने ही दिनों तक उसकी वही अवधूत वाली क्रिया चलती रही। यह देख कर दुनिया उसकी भक्त हो गई।

दुनिया तो अन्धी गधी के समान होती है। उसे चाहे चोर हांक कर ले जाएँ, चाहे साहूकार। वस्तुस्थिति को ठीक तरह समझने वाले विरले मिलते है। एक भेड़ ब्यां... करती है तो उसके पीछे सारी भेड़ें ब्यां-ब्यां करने लगती हैं। एक ने किसी कारण किसी की निन्दा कर दी तो सभी उसका समर्थन करने लगे—हाँ साहव, हाँ साहब ठोक है! किन्तु अरे निरक्षर भट्टाचार्यो! जरा स्थिति तो समझी होती। तथ्य की गहराई में उतर कर जांच तो कर लेते।

किसी नदी के नाले का पानी जो मिट्टी मिश्रित आ रहा है, उसे देख कर यह अनुमान मत लगाओ और एकतर्फा फैसला मत दे दो कि जहाँ से पानी आ रहा है, वह नदी ही गन्दी है। ऐसा निर्णय करने का तुम्हें कोई अधिकार नहीं है जब तक तुम नदी तक नहीं पहुँच जाते। वहाँ जाकर देखो कि यहाँ भी पानी गंदला है या नहीं? विना निर्णय किये कोई विचार वना लेना बुद्धिमान् पुरुप का कर्त्तव्य नहीं है। असलियत का निर्णय करने के लिए उसे अपनी टाँगों को कष्ट देना होगा। यों ही दफ्तर में वैठे-वैठे निर्णय नहीं होता। जो वाजार में तेरी-मेरी सुन कर निर्णय कर लेते हैं, वे धोखे में रहते हैं और भ्रम में पड़ कर अपनी आत्मा को गंदी करते है।

क्या यह नहीं हो सकता कि किसी पाड़े-भैंसे ने मस्ती में आ कर पानी में रंगड़पन मचाया हो और पानी गंदला कर दिया हो। तो कम से कम तुम्हें तहकीकात तो करनी थी। पैरों को कष्ट देना था और निर्णय करना था कि पानी मूल से ही गंदला है या रास्ते में किसी ने गंदला कर दिया है।

इस प्रकार पूरी जाँच-पड़ताल किये विना ही हाँ में हाँ मिला

रानी ने सोचा—यह सच्चा अवधूत है और इसके काम, क्रोध, मद, लोभ आदि विकार नष्ट हो गए हैं। यह सोच कर रानी उसे अपने हाथ से भोजन कराने लगी। बाबा ने सोचा—मुझे इस अवसर का पूरा लाभ उठा लेना चाहिए। यह सोच कर उसने रानी के कपड़ों में पेशाब कर दिया। रानी ने फिर भी विचार किया—अहा, वास्तव में ही यह सच्चा अवधूत है। थोड़ी देर बाद उसने अपनी अवधूतता का पूरा परिचय देने के लिए रानी के वस्त्रों में मल का भी त्याग कर दिया। यह देख कर रानी को कुछ अरुचि हुई—इसने मेरे कपड़े खराब कर दिये ! फिर भी सोचा—चलो कोई बात नहीं। यह अवधूत जो ठहरा।

किन्तु इस बार रानी ने सोचा—परीक्षा करके तो देखना चाहिए कि यह वास्तव में ही अवधूत है या नकली बनता है ? यह सोच कर रानी ने थोड़ा-सा उसी का मल लेकर उसके मुँह की ओर बढ़ाया तो उसने घृणापूर्वक मुँह फेर लिया। यह देख कर रानी ने जान लिया कि यह असली अवधूत तो नहीं है !

रानी ने धक्का दे कर उसे अपनी गोद से अलग कर दिया और नौकरों को आदेश दिया कि धक्के दे कर इसे शहर की सीमा से बाहर निकाल दो।

सज्जनो ! सच सच ही रहेगा और झूठ झूठ ही रहेगा। कहा भी है—

सच्चाई छिप नहीं सकती बनावट के असूलों से।
खुशबू आ नहीं सकती, कभी कागज के फूलों से ॥

तो इस प्रकार के ढोंगी गुरुओं और भक्त श्रावकों से काम चलने वाला नहीं है। अतएव भगवान् के सच्चे प्रामाणिक भक्त

वनो और अपने पापों को नष्ट करने का प्रयत्न करो ऐसा करने से अवश्य तुम्हारा कल्याण होगा। इसके लिए आत्मा की शक्तियों का सही उपयोग करना होगा। आत्मा अनन्त शक्तियों का पुंज है। उन्हें पहचान कर काम में लाना चाहिए। अन्य धन तो सब जगह मिल जाते हैं किन्तु आत्मधन तो मनुष्यजन्म में ही मिल सकता है। सौभाग्य से यह जन्म हमें मिल गया है तो इसका पूरा मूल्य हमें समझना चाहिए और दूसरी प्रपंच की बातों में नहीं फंसना चाहिए। इस प्रकार जो सीधे मार्ग पर चलते है, वे संसार समुद्र से पार हो जाते है।

ब्यावर
२१—१०—५६

त्रिपुटी का त्याग

उपस्थित महानुभावो !

शास्त्र में जो प्रश्न किया गया है और जिनकी विवेचना यहाँ प्रस्तुत है, वह यह है कि जो भव्यात्माएँ—मुमुक्षु आत्माएँ—अनन्त-अनन्त काल से अपने में अड्डा जमाए राग, द्वेष और मिथ्यात्व रूप तीन दोषों का उन्मूलन कर देती है, जिनका उन्मूलन करना सहज नहीं है और जिनकी जड़ें पाताल तक फैली हुई हैं, उन त्रिदोषों को ज्ञान और चारित्र के बल से समूल नष्ट कर देती हैं, उन आत्माओं को क्या लाभ होता है ?

सज्जनो ! राग, द्वेष और मिथ्यादर्शनशल्य, ये तीन महा-दोष हैं। जो वस्तु मनोज्ञ प्रतीत होती है, जिससे स्वार्थ की पूर्ति होती हो और आनन्द की उपलब्धि होती हो, उसके प्रति लगन होना, आसक्ति होना राग है। और जो पदार्थ मन के अनुकूल न हो, अतएव मन जिन्हें ग्रहण न करना चाहता हो, उनके प्रति घृणा होना, अरुचि होना द्वेष है।

जहाँ राग है वहाँ द्वेष अवश्य होता है और जहाँ द्वेष है वहाँ प्रायः राग भी रहता है। दोनों की जोड़ी है।। आध्यात्मिक उत्क्रान्ति के समय थोड़े काल तक ही ऐसी स्थिति रहती है कि जहाँ द्वेष पहले नष्ट हो चुकता है और सूक्ष्म राग बना रहता है। किन्तु उस राग में जब द्वेष का विष नहीं रहता तो वह बहुत निर्बल होता है और

अन्तमुहूर्त्त में वह भी नष्ट हो जाता है। यह स्थिति दसवें गुणस्थान में होती है।

मोह के मुख्य दो रूप हैं—राग और द्वेष। राग के अभाव में द्वेष नहीं होता। साधारणतया यह दोना एक दूसरे के आश्रित हैं। एक के बिना दूसरा नहीं टिक सकता। दोनों एक दूसरे का पोषण करते हैं। अतएव इनको जीतना सहज नहीं है। आत्मा के ऊपर इनका अनन्त काल से साम्राज्य जमा हुआ है। आत्मा इनके कारण अतीव दुर्वल वन कर अपनी सत्ता को भी भूल गया है।

जहाँ राग और द्वेप की प्रगाढ़ता होती है, वहाँ मिथ्यादर्शन की भी वन आती है। वह भी अपना काम वेखटके करता रहता है।

मिथ्या का अर्थ है—झूठ या असत्य और दर्शन का अभिप्राय यहाँ श्रद्धा या रुचि से है। झूठी वातों पर श्रद्धा-विश्वास होना अर्थात् जिस वस्तु का जैसा स्वरूप हो उसे वैसा न मान कर अन्यथा मानना मिथ्यादर्शन कहलाता है। शास्त्रकारों ने विभिन्न अपेक्षाओं से दस और पच्चोस प्रकार के मिथ्यात्व वतलाये हैं।

मोहनीयकर्म से उत्पन्न होने वाले ये तीन दोप ही अत्यन्त भयंकर हैं। जन्म-मरण को जो अनवरत परम्परा चल रही है उसका प्रधान कारण यही है। इनके नष्ट हो जाने पर जन्म-मरण की परम्परा भी नष्ट हो जाती है और आत्मा अजर, अमर एवं कृतकृत्य हो जाती है।

तो इन तीनों दोपों के निकल जाने पर आत्मा निखर जाती है, विशुद्ध हो जाती है और आत्मा के निखर जाने पर उसे अपनी शक्तियों का ठीक-ठीक भान हो जाता है। तत्पश्चात् आत्मा देखती है कि मेरा स्वरूप क्या है और मैं इसे कैसा समझ वैठा था!

इन राग, द्वेष और मिथ्यादर्शन को आध्यात्मिक त्रिदोष कहा है और सनातनधर्म में भी इन्हें आवरणदोष, मलदोष और विक्षेपदोष के नाम से स्वीकार किया गया है।

आत्मिक गुणों का आच्छादित हो जाना आवरणदोष है। आत्मा में मलीनता उत्पन्न हो जाना मलदोष है। जैसे शरीर में मल इकट्ठा हो जाने से शारीरिक बीमारी खड़ी हो जाती है और उसे दूर करने के लिए जुलाब लेना पड़ता है, उसी प्रकार अन्तःकरण में उत्पन्न होने वाली दुर्भावनाएँ अर्थात् निन्दा चुगली ईर्षा आदि आन्तरिक बीमारियाँ ही मल दोष हैं। अन्तराय कर्म विक्षेपदोष है, क्योंकि यह वस्तु की प्राप्ति में विघ्न डालता है। मनुष्य अनेक प्रकार के मंसूबे करता है, परन्तु विक्षेपदोष उनकी पूर्ति में विघ्न डालता रहता है।

यह तो नित्य के अनुभव की चीज है कि मनुष्य मेहनत करता है, प्रबल पुरुषार्थ भी करता है, फिर भी उसे इष्ट वस्तु की प्राप्ति नहीं होती। मनुष्य की सुख पाने की अभिलाषा भी है और प्रयत्न भी है, फिर भी यदि उसे सुख नहीं प्राप्त होता तो मानना ही पड़ेगा कि कोई न कोई बाधक तत्त्व है जो इष्टसिद्धि नहीं होने देता।

व्यवहार का अनुसरण करने वाले स्थूल बुद्धि लोग स्थूल कारण को ही देख पाते हैं। उनकी बुद्धि इतनी तीखी, पैनी और और पारदर्शी नहीं होती कि स्थूल को भेद कर सूक्ष्म तत्त्व तक पहुँच सकें। इस कारण वे कह देते हैं—अमुक व्यक्ति या वस्तु ने विघ्न डाल दिया है, किन्तु वास्तव में तो उनका अन्तराय कर्म ही विघ्न कर्त्ता है। हाँ, यह ठीक है कि कोई व्यक्ति या वस्तु बाह्य कारण-

निमित्त बन जाय, परन्तु अंतरंग कारण तो अन्तराय कर्म ही है। अन्तर्वर्त्ती विक्षेपदोष या अन्तराय कर्म ने बाह्य निमित्त के द्वारा विघ्न डाला है। व्यापार में लाभ न होना, ग्राहकों का न आना, कार्य होते-होते रुक जाना आदि बातें अन्तराय कर्म पर ही प्रधानतया निर्भर हैं। इस कर्म का जब प्रबल उदय होता है तो मनुष्य की एक नहीं चलती। उसकी सब कामनाएँ और चेष्टाएँ व्यर्थ सिद्ध होती हैं।

तो शास्त्रकार कहते हैं कि इन तीन दोषों को जो जीत लेता है उसे ज्ञान-दर्शन की प्राप्ति हो जाती है। जितने-अंशों में राग, द्वेष और मिथ्यात्व छूट जाते हैं, यह आत्मा ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना के लिए कटिबद्ध होती जाती है और आगे से आगे उसका विकास होता चला जाता है। शनैः-शनैः उसमें इतना बल आ जाता है कि हजारों विपत्तियाँ और बाधाएँ क्यों न टूट पड़ें, वह अपने नियत मार्ग से विचलित नहीं होता। जब विचलित करने वाले तत्त्वों को ही उसने निर्बल बना दिया तब उसे कौन गिरा सकता है।

जगत् में जहाँ भी देखो संघर्ष और द्वन्द्व ही नज़र आता है। परस्पर विरोधी तत्त्वों के संघर्ष को ही संसार कहते हैं। इस संघर्ष में बलवान् की विजय और निर्बल की पराजय होती है। जब तक आत्मा निर्बल है तब तक वह आत्मविरोधी तत्त्वों से पराजित होता रहता है और जब उसकी शक्ति बढ़ जाती है तो विरोधी तत्त्वों को पराजित कर देती है।

ज्ञान, दर्शन और चारित्र ही आत्मा के वे अमोघ अस्त्र हैं जिन्हें धारण करके आत्मा सबल बनता है। उन्हें प्राप्त करना और

प्राप्त करके विकसित करना ही आराधना है। आराधना को अपना लेना है।

कहते है जिसे अपने अनुकूल बनाना है, उसके अनुकूल चलना पड़ता है। ऐसा न करके यदि उसे गालियाँ दोगे, कोसोगे और लाठी मारोगे तो वह तुम्हारे अनुकूल कैसे बन सकता है? किसी को नीचा दिखा कर और बेइज्जत करके अपनाया नहीं जा सकता।

याद रक्खो, अगर तुम्हारी भावना विपरीत हो जाएगी तो उसका असर दूसरे पर पड़े बिना नहीं रहेगा।

शास्त्रकारों ने ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना की विधि बतलाई है। ज्ञानाराधना को दूषित करने वाले चौदह दोष हैं—जं वाइच्छं, वघामेलियं आदि। जो इन दोषों को टाल कर शास्त्रस्वाध्याय करते हैं, वे वस्तुतः ज्ञान की आराधना करते हैं। ज्ञान की आराधना तभी होती है जब कि उसके अनुकूल साधन जुटाये जाते हैं।

ज्ञान की आराधना के लिए १४ दोषों को टाल देना चाहिए तथा ज्ञान और ज्ञानवान् पुरुष की आसातना नहीं करना चाहिए। ज्ञानी का अपमान करना भी ज्ञान का अपमान करना है। कई लोग भ्रमवश कहते हैं—'क्या रक्खा है ज्ञान में। जो ज्यादा पढ़े-लिखे हैं, वे ज्यादा पाप करते हैं'। परन्तु उनका ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञान डुवाने के लिए नहीं तारने के लिए है। भगवान् ने ज्ञान को मोक्ष का प्रथम कारण वतलाया है। ज्ञान के विना चारित्र संभव ही नहीं होता। ज्ञान आत्मा का प्रधान गुण है और वही उसे प्रकाश देता है। सूर्य का प्रकाश अन्धेरे के लिए, उद्योत के लिए ही होता है। जितना-जितना प्रकाश बढ़ता जाएगा अन्धेरा उतना ही

उतना नष्ट होता जाएगा। जो अनन्त जीव अब तक मोक्ष में गये हैं, ज्ञान ने ही उनके पथ का प्रदर्शन किया है। अतएव ज्ञान का अपमान करना भगवान् के शासन का अपमान करना है। वास्तव में ज्ञान कभी नहीं डुबाता। डुबाने वाला तो अज्ञान ही है।

सज्जनो ! पुस्तक वांच लेना ही ज्ञान नहीं है, वस्तुतत्त्व का वास्तविक बोध होना ही ज्ञान है। पढ़ते तो बहुत हैं और बहुत-सी पुस्तकों का बोझ उठाते हैं, परन्तु—

पठन्ति वेदशास्त्राणि, दुर्लभो भावबोधकः।
शिरो वहति पुष्पाणि, गन्धं जानाति नासिका।

अर्थात्—पुस्तकों का भार उठाने वाले तो बहुत मिल जाएँगे, किन्तु उनको सुगन्ध लेने वाले भ्रमरे विरले ही मिलेंगे। कई लोग वेदपाठी कहलाते हैं, अनेक भाषाओं के ज्ञाता बन जाते हैं, विभिन्न भाषाओं में धाराप्रवाह वक्तृता दे सकते हैं, उनकी बोलने की चतुराई का पार नहीं होता, परन्तु बहुतों की आत्मा में जो चीज़ होनी चाहिए वह नहीं होती। अक्षरज्ञान होने पर भी जो आत्मज्ञान से रहित है, वह वास्तव में ज्ञानवान् नहीं है।

शास्त्र में कहा गया है—'नाणस्स फलं विरई' अर्थात् ज्ञान का फल चारित्र है। इसका अर्थ यह हुआ कि ज्ञान की सफलता सदाचार में है। जो ज्ञान सदाचार रूप फल को उत्पन्न नहीं करता वह वास्तव में ज्ञान ही नहीं है।

वास्तविक ज्ञान श्रेष्ठ कार्यों के लिए प्रेरणा देता है। वह ऐसी सूझ-बूझ देता है और उससे ऐसा मार्ग मिलता है कि जिससे आत्मा कल्याणपथ की ओर अग्रसर होता है।

ज्ञान से अहित कदापि नहीं होता। अमृत से मुख कड़वा हो ही नहीं सकता। वह तो ज़हर है जो मुँह को कटुक बनाता है। तो ज्ञानी कहला कर जो जुआ खेलता है, मदिरापान करता है, दुष्कृत्य करता है, निन्दा और चुगली में जिंदगी बर्बाद करता है, वह अक्षर-ज्ञानी भले ही हो, आत्मज्ञानी नहीं कहला सकता। उसका ज्ञान निष्फल होने के कारण वन्ध्य (बांझ) है। उसको आत्मकल्याण रूपी सन्तति की प्राप्ति नहीं हो सकती।

तो बहुत-से लोग वेद, कुरान और पुराण और दुनिया के ग्रन्थ पढ़ते हैं और १८ भाषाओं के वेत्ता भी हो जाते हैं, किन्तु यदि आत्मा में उनका अमल नहीं है और वस्तु को यथार्थ रूप में समझने की बुद्धि नहीं है तो शास्त्रीय दृष्टि से वे ज्ञानी नहीं हैं अज्ञानी हैं।

सज्जनो ! विभंगज्ञानी लाखों-करोड़ों योजनों की बातों को जान लेते हैं। वह भी एक प्रकार का प्रकाश है परन्तु वह विपर्यय रूप है। अर्थात् वस्तु कुछ है और उसे जानता कुछ और ही है।

तो पोथे पढ़ने वाले तो बहुत मिलेंगे किन्तु भावबोध प्राप्त करने वाले बहुत कम मिलेंगे। ग्रन्थों का बोझ ढोने वालों की कमी नहीं है। गुलाब, चम्पा, चमेली जुही, मोगरा आदि की माला स्त्रियाँ चोटी पर सजाती हैं तो उनका बोझा सिर को उठाना पड़ता है, परन्तु उन पुष्पों के सौरभ का आनन्द तो नासिका ही लेती है। सिर तो केवल बोझ उठाने को है, वह खुशबू नहीं ले सकता।

इस प्रकार बोझ उठाने के लिए और हैं और आनन्द लेने वाला भ्रमर और ही है। बोझ उठाने वाले तो पोथियों का भार उठा-उठा कर यों ही मर जाएँगे। वे उनसे कोई लाभ नहीं उठा सकेंगे।

दुर्गंध लेने वाले दुर्गंध ले लेते हैं और सुगन्ध लेने वाले सुगन्ध ले लेते हैं।

जिसके पास जैसी वस्तु होती है वह वैसी ही दे या दिखला सकता है। किसी से गधे के सींग माँगो तो कहाँ से मिल जाएँगे ? कहा भी है—

जगति विदितमेतद् दीयते विद्यमानम्।
न हि शशकविषाणं कोऽपि कस्मै ददाति॥

अर्थात्—यह बात तो जगत् में भली-भाँति विदित ही है कि विद्यमान वस्तु ही प्रदान की जा सकती है। शशक के सींग, जो होते ही नहीं, कौन किसे दे सकता है ?

और जैसी जिसकी भावना होती है उसे वैसी ही वस्तु मिल भी जाती है। दुकान में तरह-तरह का माल होता है परन्तु जिसे जैसा माल लेना होता है, वह वैसा ही पसन्द करके ले लेता है।

यह संसार है। इसमें अनेक प्रकार की रुचि वाले लोग मौजूद हैं। किसी की दृष्टि गुणों की तरफ तो किसी की दृष्टि दोषों की ओर जाती है। सब अपनी-अपनी दृष्टि से देख कर वस्तु को ग्रहण कर लेते हैं। जमीन में पाँचों रंग, पांचों रस और दोनों प्रकार की गंध मौजूद है। विभिन्न प्रकार के पौधे अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार रूप, रस और गन्ध उसमें से ग्रहण कर लेते हैं। जिस बेल में पीले फ़ूल लगते हैं, वह पीले रंग और रस को ही ग्रहण करती है, वहाँ निसर्गतः पीले रंग के ही पुद्‌गलों का आकर्षण होता है। इसी प्रकार इस संसार में सभी कुछ मौजूद है और जिसकी जैसी प्रकृति है, वह वैसा ही रस ग्रहण कर लेता है। गुलाब गुलाब का रस

खींच लेता है और दुर्गन्ध युक्त प्याज दुर्गन्ध-पूद्गलों को खींचता है।

तो शास्त्र में आया है कि स्वाध्याय करते हुए भी दोषों को बचाना चाहिए और ज्ञानवानों के प्रति श्रद्धा रखनी चाहिए कि—धन्य हैं वे जो मेहनत करके ज्ञानोपार्जन करते हैं और दूसरों को भी अपने ज्ञानालोक से प्रकाशमय बनाते हैं। जो ज्ञान की और ज्ञानी पुरुषों की प्रशंसा करता है, उनका मान-सम्मान करता है उसका ज्ञानावरणीय कर्म कटता चला जाता है और वह ज्ञानप्राप्ति के पथ को प्रशस्त कर लेता है।

सज्जनो ! कभी मन में न आने दो कि—ज्ञान में क्या धरा है ! ज्ञान के अभाव में कुछ भी नहीं है। ज्ञान के विना जड़ता आ जाती है। ज्ञान के प्रताप से ही तू चेतन बना हुआ है अन्यथा जड़ में और तुझमें कौन-सा अन्तर रह जाता ?

इस प्रकार दर्शनाचार के पाँच अतिचारों से बच कर दर्शन की आराधना करनी चाहिए। जो उन ज्ञानविरोधिक दोषों अतिचारों का सेवन करते हैं, वे दर्शन की विरोधना करते हैं।

इसी प्रकार जिसने जो चारित्र अंगीकार किया है, वह उसका निर्मल रूप से पालन करे, यह चारित्र की आराधना है। श्रावक देशविरति को और साधु सर्वविरति चारित्र को धारण करता है। उसका कर्त्तव्य है कि वह उस गृहीत चारित्र का सर्वतोभावेन रक्षण करे। जिसके ज्यादा खेती होती है वह ज्यादा की और थोड़ी खेती वाला थोड़ी खेती की रखवाली करता है। रखवाली करने से कुछ न कुछ प्राप्ति होगी ही। तात्पर्य यह कि जिन क्रियाओं के करने से चारित्र में दोष आते हों और चारित्र का खण्डन होता हो, उन्हें न करना ही चारित्र की आराधना है।

इस प्रकार ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना एवं तज्जनित आत्मिक जागृति तभी होती है जब राग, द्वेष और मिथ्यात्व दूर हो जाते हैं। यह आत्मा जब तीन रत्नों की आराधना के लिए कटिबद्ध हो जाती है और दृढ़ संकल्प हो कर लग जाती है तो अनादिकालीन कर्मग्रन्थि शनैः-शनैः शिथिल और शिथिलतर होकर खुल जाती है। जैसे ठग किसी की गांठ काट लेता है, उसी प्रकार वह कर्मों की गांठ को काट डालता है।

शास्त्र में आठ कर्मों को नष्ट करने का तरीका बतलाया गया है। सर्वप्रथम मोहनीय कर्म पर ही हमला करना होगा क्योंकि यही सब कर्मों का प्रधान सेनापति है। यह वह तार-बाबू है जो भीतर ही भीतर बैठा हुआ तार खटखटाता रहता है। मोहनीय कर्म २८ प्रकार से जीव पर प्रभाव डालता है। उनमें सोलह प्रकार का कषाय चारित्र मोहनीय, नौ प्रकार का नोकषायचारित्रमोहनीय और तीन प्रकार का दर्शन मोहनीय-मिथ्यात्व, मिश्र और समकितमोहनीय हैं।

सोलह प्रकार का कषायमोहनीय इस प्रकार है—(१) अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ; (२) अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ; (३) प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ और (४) संज्वलन क्रोध, मान, माया लोभ।

नौ नोकषाय ये हैं—(१) हास्य (२) रति (३) अरति (४) शोक (५) भय (६) जुगुप्सा (७) स्त्रीवेद (८) पुरुषवेद और (९) नपुंसकवेद।

दर्शनमोहनीय के तीन भेद इस प्रकार हैं—

(१) मिथ्यात्व मोहनीय—जिसका उदय होने पर समकित की प्राप्ति न हो सकती हो। जिसके कारण जीव धर्म को अधर्म

और अधर्म को धर्म मानता है, कुगुरु तथा कुदेव को सुगुरु तथा सुदेव समझता है। यह कर्म जीव को विपरीत श्रद्धायुक्त बना देता है।

(२) मिश्रमोहनीय कर्म जीव को मिश्रपंथी बना देता है। यानी इस कर्म के उदय से जीव न तो हिन्दुस्तान में रहता है और न पाकिस्तान में ही। बीच की हालत में रहता है। किसी ने कहा—कुत्ता भाई, राम-राम; तो वह भी कह देता है—कुत्ता भाई, राम-राम। और कोई कहता है—गधेड़े भाई, राम-राम; तो वह भी वैसा ही कह देता है। तो मिश्रपन्थी होने में कुछ नहीं धरा है।

मैं सौराष्ट्र में गया तो विहार करके लींवड़ी पहुँचा। वहाँ के स्थानक में ठहरा। लींवड़ी सम्प्रदाय के वर्तमान पूज्य धन जी स्वामी हैं और उनसे पूर्व अजरामर स्वामी आचार्य हुए हैं। वे वड़े प्रभावशाली सन्त थे। हमें उनका उपकार मानना चाहिए और कृतज्ञ होना चाहिए जिन्होंने धर्म की उन्नति की हो, फिर भले ही वे किसी भी गच्छ या सम्प्रदाय के क्यों न हों। किसी सम्प्रदाय विशेष से हमारा नाता नहीं है, हमारा सम्बन्ध तो गुणों से है।

सज्जनो! अजरामर स्वामी वड़े पुण्यवान् पुरुष हो गये हैं। उन्होंने धर्म का वड़ा उत्थान किया है। किन्तु आजकल वहाँ उनके नाम का धर्मस्थानक में एक पाट-तख्त रक्खा है, जिस पर गद्दी और तकिया भी लगे हैं—और मालाएँ भी रक्खी हुई हैं। पूज्य धनजी स्वामी वहाँ साक्षात् विराजमान हैं, परन्तु कई भक्त पहले उस पाटिया को नमन करते हैं और फिर पूज्य जी को। इस प्रकार हमारी मौजूदगी में ही जव यह मामला होने लगा तो वात वड़ी विचारणीय हो गई! हमने देखा—ये शिष्य उस वोलते देव को पीछे

नमस्कार करते हैं और पाटे को पहले, तो क्या इन्हें आरम्भ से ही ठीक शिक्षा नहीं दी गई है ? तब मैंने उन अन्ध भक्तों से पूछा— वे आचार्य क्या गद्दी-तकिया का सेवन करते थे ?

उत्तर मिला—यह तो गद्दी है।

मैंने कहा—उनका शरीर जल कर राख हो गया और आत्मा ने जैसे कर्म किये थे, उनके अनुसार गति में चली गई। अब तुम किस को मत्था टेकते हो ?

मैंने उन्हें यह भी समझाया—मरे हुए को नमस्कार करना मिथ्यात्व है। यह जड़पूजा नहीं तो क्या है ? ज्ञान, दर्शन और चरित्र तो आत्मा में रहते हैं और जब तक वे रहते हैं तब तक पूजा है।

सज्जनो ! कोई मनुष्य संयम-साधुपने से गिर चुका हो गृहस्थ बन गया हो अथवा कोई साधु बनने का उम्मीदवार हो, तो क्या तुम उन्हें नमस्कार करोगे ? तुम उन्हें साधु की तरह नमस्कार नहीं करोगे, क्योंकि उनमें महाव्रत नहीं है। वह संयम से गिरा व्यक्ति सम्यग्दृष्टि हो सकता है और श्रावकधर्म का भी पालन कर सकता है फिर भी वह वन्दनीय नहीं है। परन्तु जब शरीर से आत्मा ही निकल गया हो तो उस जड़ शरीर के वन्दनीय और पूजनीय होने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

मुझे कहना पड़ेगा कि कई साधु-साध्वी भी इस रोग के शिकार हैं। अतएव सब को ठीक संस्कार डालने चाहिए और कहना चाहिए कि अब वे हमारे मृतक गुरु आदि पूजनीय नहीं हैं। वे अब अव्रती बन चुके हैं।

अव्रती सम्यग्दृष्टि का चौथा गुणस्थान होता है, देशविरत श्रावक का पाँचवाँ और साधु का छठा गुणस्थान होता है। पंचम और षष्ठ गुणस्थान वाले चतुर्थ गुणस्थान वाले को वंदना और उस की पूजा कैसे कर सकते हैं ?

परन्तु कहें किसको ? यह मोह है, हमारेपन की ममता है इसी से अनुचित कृत्य होते हैं। मिथ्यादर्शनशल्य ही ऐसे कृत्य करवाता है।

सज्जनो ! मेरे गुरुदेव स्वर्गवासी हो चुके हैं। उन्होंने मुझे ज्ञान दिया है। मेरी स्मृति बनी रही तो जन्म-जन्मान्तर में भी मैं उनका उपकार नहीं भूलूँगा। यही मेरा कर्त्तव्य है और यही मेरे लिए उचित है। मगर इसका यह अर्थ नहीं कि मैं उनकी मांड़ी बना कर पूजता फिरूँ ! ऐसा करने का अभिप्राय तो यह हुआ कि तुमने उनको ईंट, चूना और पाषाण बना दिया और पूजा करने लगे; क्योंकि उनमें तुमने उनकी कल्पना कर ली।

स्पष्ट शब्दों में कहा जाए तो यही कहना पड़ेगा कि तुमने गुरु को गुरु न मान कर ईंट, चूना, पत्थर मान लिया है। तुमने उनकी जड़ पदार्थ में कल्पना कर ली है। 'श्रद्धामयोऽयं पुरुषः' अर्थात् जैसी वस्तु का ध्यान किया जाएगा, ध्यान करने वाला भी वैसा ही बन जाएगा। एक उदाहरण लीजिए—

एक भक्त जी बड़े प्रेमी थे, भजनानन्दी थे। वे महात्माओं के के पास जाते थे और कभी-कभी आत्मा के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर भी किया करते थे। वे बोले महाराज मन स्थिर नहीं होता। महात्मा ने उन्हें विधि-निषेध रूप में अनेक शिक्षाएँ दीं कि—ऐसा करना या

हिए और ऐसा नहीं करना चाहिए। उन्होंने कहा—धर्म-ग्रंथ पढ़ो, स्वाध्याय करो, ध्यान किया करो। इससे तुम्हारा मन स्थिर हो जाएगा। उसने महात्मा के कथनानुसार साधन किए, किन्तु जन्म-जन्मान्तर का विगड़ा मन सहसा ठिकाने कैसे आ सकता है ?

तो भक्त जी ने कहा-गुरू जी स्वाध्याय से तो मन ठिकाने नहीं रहता। अव क्या करूँ ?

गुरू जी ने मार्ग बतलाया अच्छा, ध्यान किया करो। भक्त-ध्यान किसका करूँ ?

महात्मा पहुँचे हुए थे। अतएव उन्होंने कहा—जो चीज़ तुझे सब से अधिक प्रिय हो, उसी का ध्यान कर।

भक्त घर आकर सोचने लगा—प्रिय तो मुझे माई-वाई-भाई भी है, पर इन से भी अधिक कोई वस्तु यदि प्रिय हो सकती है तो वह क्या है ? इस प्रकार वह अपनी लिस्ट में से प्रिय चीज़ को तलाश करने लगा। परन्तु था वह स्वच्छ हृदय। उसमें ४२० करने की—हेराफेरी करने की आदत नहीं थी। वह अपने प्रति प्रामाणिक था और वास्तव में अपना जीवन वनाना चाहता था। परन्तु पिछले संस्कार उसके वाधक वन रहे थे।

इधर ये वैद्यराज भी वड़े होशियार होते हैं। अवसर देखें तो महंगी दवा भी वतला देते हैं और ऐसा ही मौका आ पड़े तो कौड़ियों की भी दवा बता देते हैं। गरीव को ऐसी कौड़ियों की दवा ही उप-योगी होती है, क्योंकि अधिक कीमती दवा वह खरीद नहीं सकता और अविश्वास के कारण वह उसे लाभ नहीं पहुँचा सकती। अतएव गरीव के लिए तो दो पैसे की पुड़िया ही रामवाण सिद्ध होती है। हाँ, कोई अमीर, राजा या सेठ है तो उसे कीमती से कीमती मोतियों

की भस्म आदि बहुमूल्य दवा बतलाई जाती है। तभी उसे दवा पर विश्वास होता है और तभी वह तन्दुरुस्त बनाने में सहायक सिद्ध होती है।

अगर अमीर को कौड़ियों की दवा बता दी जाए, तो वह माथे पर सल चढ़ा लेता है; क्योंकि वह उसे दवा नहीं खिलौना समझता है और इस कारण वह उसे लाभ भी नहीं पहुँचाती। दवा के प्रति विश्वास होना आवश्यक है।

तो वैद्य अवसरज्ञाता होते हैं। जिस समय जिसको जैसी दवा देनी चाहिए, उस समय उसको वैसी ही दवा देते हैं। इसी प्रकार सुधारने वाले भी व्यक्ति को वैसा ही नुक्सा बता देते हैं।

तो भक्त जी ने वह लिस्ट गुरुजी को बतलाई और कहा—मुझे ये चीज़ें अत्यन्त प्रिय हैं, इनके प्रति मेरी आसक्ति है, ममता है। तो इनमें से किसका ध्यान करूँ ? कृपया आप ही पथ-प्रदर्शन कीजिए।

गुरुजी बोले—जो भी प्यारी चीज़ लगे उसी का ध्यान करके बैठ जाना और कमरा बन्द कर लेना।

वह फिर घर लौट आया और सोचने लगा। सोचते-सोचते उसकी नज़र अपनी भूरी भैंस पर पड़ी। वह बड़ी मोटी ताजी और सुन्दर थी और साथ ही खूब दूध देने वाली थी। भैंस के सींग भी बहुत बड़े थे। उसे वही सबसे प्रिय लगी।

वह दौड़ा-दौड़ा गुरु के पास गया और बोला—गुरुजी, मुझे सब से प्यारी चीज मिल गई और वह है मेरी भूरी भैंस।

गुरुजी ने कहा—कोई हानि नहीं। तू बन्द कमरे में उसी भैंस

का ध्यान करना। मन में यही कहता रहना—मैं भैंस हूँ, मैं भैंस हूँ !

भक्त गुरुमन्त्र लेकर घर आ गया। एक अन्धेरी कोठरी में बैठ गया और भैंस का ध्यान करने लगा। ध्यान करते-करते छह माह समाप्त हो गए। इस अर्से में उसके मानसपटल पर अच्छी तरह भैंस के संस्कार जम चुके थे।

एक दिन गुरु जी आए और बोले—बच्चा, बाहर आओ। तब वह उसी ध्यान में बोला—गुरुजी, आऊँ कैसे ? मेरे सींग जो दरवाजे में फँसते हैं।

यह सुन कर गुरु जी अन्दर गए और हाथ पकड़ कर बाहर ले आए। फिर पूछा—तूने सींग फँसने की बात कैसे कही ?

भक्त—मैं अभी तक निरन्तर भैंस का ध्यान करता रहा और समझने लगा कि वास्तव में मैं भैंस हूँ।

सज्जनो ! यह है गहरे विचारों का प्रभाव। भैंस का ध्यान करने से उसे यह प्रतीत होने लगा कि वह स्वयं भैंस ही है। उसका जीवन उसी रूप में ढल गया, भैंस के साथ एकरूप हो गया।

गुरु ने उससे कहा—तूने भैंस का ध्यान किया तो अपने आप को भैंस ही समझने लगा; परन्तु वास्तव में तू भैंस नहीं बना है, तू तो मनुष्य का मनुष्य ही है। तेरी वह कल्पना मिथ्या है। जब तेरे चित्त पर भैंस का ध्यान करने से भैंस का असर आ गया, तो यदि तू परमात्मा का ध्यान लगाता तो परमात्मा का चित्र क्यों न आ जाता ?

गुरुजी ने पुनः कहा—हे भक्त ! जितनी निष्ठा तेरी भैंस के प्रति रही, उतनी अगर परमात्मा के प्रति होती तो तू परमात्मा क्यों नहीं बन सकता था ? तुम जिसके साथ प्रेम रखते हो, वह स्वप्न में भी सामने आ जाता है और लगता है जैसे साक्षात् वार्त्तालाप कर रहा हो। वह प्रश्न करता है और तुम उत्तर देते हो। तुम प्रश्न करते हो तो वह उत्तर देता है। यह सब विचारों का ही चमत्कार है।

तो मैं कहता हूँ कि—जब वह भैंस का चिन्तन करने से भैंस के रूप में आ गया, तो जैसी बात सुनोगे, सुनाओगे, वैसी ही भावना बन जाएगी। फिर सींग वाली बनने में भी कसर नहीं रहेगी और मरते समय भी वही आनुपूर्वी आएगी कि मेरे सींग कहीं फँस न जाएँ ! इसलिए सज्जनो ! सीधा विचार करो। सिर नीचा और टाँगें नीची करने से कोई काम नहीं चलेगा।

कहावत है टिटहरी नामक पक्षी ऊपर टाँगें करके ही सोता है। वह सोचता है - कहीं आसमान मेरे ऊपर न पड़ जाए। भला क्या आसमान गिर जाने वाला पदार्थ है ? यह उसकी एक प्रकार की अज्ञानता ही है।

तो मनुष्य भैंस नहीं बना, मगर उसके चित्तपटल पर एक चित्र अवश्य बन गया। याद रक्खो, उतना ही प्रेम परमात्मा के प्रति रक्खोगे और प्रेम से उसका ध्यान करोगे तो एक दिन निस्सन्देह परमात्मा बन जाओगे।

तो मैं कह रहा था कि जड़ पदार्थ का ध्यान करने से बुद्धि में जड़ता आती है। ऐसा करने से ज्ञान को जागृति होने वाली नहीं है।

हाँ, तो लोग लींबड़ी में विराजमान पूज्य जी को बाद में किन्तु उस पाट को पहले नमस्कार करते थे। मैंने इस सम्बन्ध में आन्दोलन किया और डट कर विरोध किया। यद्यपि मैं परदेश में था, पर साधु के लिए स्वदेश क्या और परदेश क्या ? एक तरह से वह भी मेरा स्वदेश ही था और यह भी मेरा स्वदेश ही है। भारत का साधु किसी भी प्रान्त का क्यों न हो, समूचे भारत को ही स्वदेश समझता है।

सरकार का सैनिक चाहे पंजाब में ही जन्मा हो, परन्तु वह पंजाब का ही नहीं, समस्त भारत का सैनिक है। इसी दृष्टि-कोण को सामने रख कर उसे भारत की चप्पा-चप्पा भूमि की रक्षा करनी है।

हाँ, तो मैंने आन्दोलन किया और उस रूढ़िवाद को दूर करने के लिए जोरदार भाषण किया। लोगों के हृदय फड़फड़ाने लगे। उन्होंने स्वीकार किया—वास्तव में ही हम मिथ्यात्व को प्रश्रय दे रहे हैं।

सब लोग हाथ जोड़ कर प्रतिज्ञा ग्रहण करने के लिए खड़े हुए। किन्तु सज्जनो ! स्वार्थ ही जीवों को दुःख देता है। जब लोग प्रतिज्ञा लेने को उद्यत हुए तो वहाँ के संघपति ने सोचा—दो हजार वार्षिक का जो चढ़ावा चढ़ता है वह बन्द हो जाएगा। आमदनी मारी जाएगी ! संघपति ने प्रकट रूप में कहा—महाराज ! इस पाट से प्रतिवर्ष दो हजार की आय होती है।

मैंने सोचा—इनकी दृष्टि में दो हजार का तो मूल्य है परन्तु अमूल्य रत्न समकित का कुछ भी मूल्य नहीं है।

पहले उस पाट पर झोली और पात्र भी रक्खे जाते थे।

पूज्य धन जी स्वामी ने मुझे वतलाया कि—जव से पाट पर झोली-पात्र रखने वन्द किए हैं तव से तो चेले वनने भी कम हो गए हैं !

मैंने कहा—तव तो झोली में से चेले निकलते होंगे ? सज्जनो ! जव पूज्यश्री को ही ऐसी धारणा है तो चेलों का क्या हाल होगा ?

मैंने अपनी विहारयात्रा के पृष्ठों में इस घटना का चित्र भी अच्छी तरह खींचा है। मैंने सुरेन्द्रनगर, वम्बई आदि वहुत से नगरों में जड़पूजा का त्याग करवाया है। हम जड़ के उपासक नहीं, चेतन के उपासक हैं। हमें अपनी इस परम्परा को अक्षुण्ण वनाए रखना है।

मुझे दोहरा मुकाविला करना पड़ता है। इधर तो अपने ही भक्तों से मुकाविला करना पड़ता है। जव वे कहते हैं कि महाराज तो निन्दा करते हैं तो उन्हें समझाना पड़ता है कि मिथ्यातत्त्व तो निन्दनीय ही है। उधर दूसरों के साथ भी इस विपय में संघर्ष करना पड़ता है।

जरा सूयगडांग सूत्र उठा कर तो देखो कि भगवान् ने मिथ्यात्व और पाखण्ड का किस खूवी के साथ खण्डन किया है ! जव भगवान् ने मिथ्यात्व का निषेध किया है तो हमारा भी कर्त्तव्य हो जाता है कि हम अपने भीतर घुसे हुए मिथ्यात्व रूपी चोर को वाहर निकाल दें।

तो मुझे डट कर मिथ्यात्व का मुकाविला करना पड़ता है और मैं किसी की परवाह करने वाला नहीं हूँ। मैं तो केवल सत्य

को सामने रख कर चलता हूँ। मुझे किसी बनावटी भक्त की परवाह भी नहीं और आवश्यकता भी नहीं है। टयूब की टाँगों वाले भक्त क्या काम आएंगे ? वे तो समय पर धोखा ही देंगे।

भद्र पुरुषो ! आपको मालूम होना चाहिए कि जो मनुष्य जैसा ध्यान करता है, वह वैसा ही बन जाता है। जड़ का ध्यान करने वाले व्यक्ति की बुद्धि जड़ हो जाती है और चेतन का ध्यान करने वाला चेतन भाव प्राप्त करता है। हरियाली की तरफ देखोगे तो आँखों को और दिमाग को शीतलता मिलेगी, शान्ति मिलेगी। यदि कड़कती धूप में रेत के टीले की चमक को देखोगे तो आँखों को अशान्ति ही मिलेगी। जड़ की उपासना से चेतन भाव दब जाएगा, वह पुष्ट नहीं होगा।

सज्जनो ! वक्त निकल जाता है और बात रह जाती है। तो जो राग, द्वेष और मिथ्यात्व को अपने हृदय से निकाल देते हैं। उनके आठों कर्म नष्ट हो जाते हैं। सबसे पहले मिथ्यात्व को पकड़ना होगा। यह मिथ्यात्व ही सबसे बड़ा और भयंकर दोष है। जब तक इसका साम्राज्य छाया हुआ है, राग-द्वेष को नष्ट करना सम्भव नहीं है। मिथ्यात्व के रहते मोक्षमार्ग की आराधना भी सम्भव नहीं हो सकती। अतएव सर्वप्रथम मिथ्यात्व का ही त्याग करो। मिथ्यात्व से मुक्त हो जाने पर ही धर्मध्यान आदि क्रियाओं की वास्तविक सफलता होगी। अन्यथा कोई लाभ न होगा।

मिथ्यात्व का त्याग किये बिना जो दूसरी साधना करते हैं वे वही कहावत चरितार्थ करते हैं कि—अंधी बुढ़िया आटा पीसे और जितना पीसे उतना ही कुत्ता चाट जाए। अन्धी बुढ़िया क्षम्य है पर सूझना क्षम्य नहीं। अतएव सोचो-समझो और इन दोष रूपी कुत्तों

को पास भी मत फटकने दो। अपना दरवाज़ा वन्द कर लो। मिथ्यात्व को रोकने के लिए सम्यक्त्व के कपाट जड़ दो और फिर तप-संयम का आटा पीसो तो किसी के सामने हाथ नहीं पसारना पड़ेगा। इस प्रकार जो राग, द्वेष और मिथ्यात्व की त्रिपुटी का त्याग करते हैं, वे संसार-समुद्र से पार हो जाते हैं।

ब्यावर
२२—१०—५६

मूल का उन्मूलन

उपस्थित महानुभावो !

कल के प्रवचन में वतलाया गया है कि राग, द्वेष और मिथ्यात्व रूप तीन दोष ही आत्मा को अनादि काल से क्षत-विक्षत कर रहे हैं, अस्त-व्यस्त बना रहे हैं और शुद्ध आत्मस्वरूप को प्रकट नहीं होने देते। जो साधक इन दोषों को आत्मवल, ज्ञानवल और चारित्रबल के द्वारा निकाल देते हैं, वे ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना के योग्य बन जाते हैं; क्योंकि ये ही दोष ज्ञान—दर्शन—चारित्र की आराधना में वाधक हैं। जिन आत्माओं ने इन तीनों दोषों का परित्याग कर दिया है, वे ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना के लिए कटिबद्ध हो जाते हैं और अनेकानेक कष्ट आने पर भी उस आराधना से विरत नहीं होते। वड़ी से वड़ी विपत्तियाँ भी उन्हें अपने ध्येय से विचलित नहीं कर सकतीं।

आज मनुष्य जरा-सी कठिनाई उपस्थित होते ही अपने निर्दिष्ट पथ से डिग जाता है, क्योंकि उसमें ये तीन दोष विद्यमान होते हैं और वे अपना काम कर रहे होते हैं। इनकी विद्यमानता में यथेष्ट दृढ़ता-सत्व—नहीं आ पाता।

जव इन तीन दोपों का अभाव हो जाता है तो ज्ञान दर्शन और चारित्र की आराधना सहजभाव में ही होने लगती है। फल यह होता है कि वह आठ कर्मों की गाँठ को फौरन तोड़ डालता है।

आठ कर्मों की प्रकृतियाँ किस क्रम से नष्ट होती हैं ? शास्त्र में उनका क्रम भी बहुत विस्तृत और सुन्दर ढंग से प्ररूपित किया गया है। सर्वप्रथम मोहनीय कर्म का नाश होता है। यह कर्म सब कर्मों का राजा या सेनापति है। इसको जीत लेने पर सेना में मैदान में खड़ा रहने की शक्ति नहीं रहती। फिर वह सहज ही भाग खड़ी होती है। शास्त्र में एक दृष्टान्त दिया गया है। ताड़ के वृक्ष के ऊपर शिखा होती है और वह शिखा सारे पेड़ की जीवनाधार होती है। उसी शिखा से पेड़ को खुराक मिलती है।

श्रीमद् दशवैकालिकसूत्र में वनस्पति के अनेक भेद बतलाये गये हैं। यों तो वनस्पति जीवों की २४ लाख योनियाँ बतलाई गई हैं। कोई-कोई वनस्पति अग्रबीज होती है। उसका फलना-फूलना उसकी चोटी-शिखा पर निर्भर करता है। उसके अग्रभाग में ही बीज विद्यमान रहता है। अगर उसकी चोटी कट जाती है तो सारा पेड़ ही सूख जाता है।

सज्जनो ! हम साधु तो घुमक्कड़ हैं। पैदल-विहारी हैं। सैकड़ों कोसों तक चारों दिशाओं में विहार करते हुए जाते हैं। हमें घूमते समय कई चीजें प्रेक्टिकल रूप में, जिनका शास्त्रों में वर्णन है, सिद्ध होती हुई देखने को मिलती हैं।

हम देखते हैं कि खजूर के पत्तों की अनेक चीजें बनाई जाती हैं—चटाइयाँ, झाड़ू और टोकरी वगैरह। वह पशुओं को खिलाया भी जाता है। लोग आवश्यकता के अनुसार खजूर के पत्ते-डालियाँ काट लेते हैं किन्तु चोटी रहने देते हैं। जैसे मनुष्य के सिर के सब बाल साफ कर दिये जाते हैं, सिर्फ चोटी रहने दी जाती है।

तो चोटी रखने की भारतीयों की पुरानी संस्कृति है। यह पद्धति आज से नहीं, परम्परा से प्राचीन काल से ही चली आ रही है। मगर आज कल के कई वावू लोगों को तो पहचानना ही कठिन हो जाता है कि यह भाई हैं या वाई। क्योंकि न उनके चेहरे पर दाढ़ी होती है और न मूंछ ही। हाँ, मस्तक पर लम्बे बाल अवश्य होते हैं परन्तु चोटी नदारद रहती है।

गौतम कुमार आदि ने जब बाल तो उतरवा दिये किन्तु चार अंगुल प्रमाण चोटी रहने दी और उसका लोच गुरु जी ने किया। प्रश्न उठ सकता है कि उतने से बाल क्यों रहने दिये ? और गुरु जी ने उनका लोच क्यों किया ?

सज्जनो ! यह भी साधुता की एक कसौटी है। वाई हँडिया के एक चावल को देख कर पहचान जाती है कि चावल सीधे हैं या नहीं ? इसी प्रकार गुरु जी वह वाल उखाड़ कर शिष्य की शक्ति-परीक्षा कर लेते हैं। वे जान लेते हैं कि इसमें कितनी सहनशीलता है ? अगर शिष्य वाल उखाड़ते समय 'सी' कर देता है तो समझ लेते हैं कि यह सहिष्णु नहीं है।

तो खजर के पेड़ के पत्ते वगैरह काट लिये जाते हैं किन्तु चोटी छोड़ दी जाती है। वह खजूर या ताड़ फिर फल-फूल जाता है। यदि अन्य डालियाँ तो रहने दी जाएँ और चोटी काट ली जाय तो वे डालियाँ अपनी और वृक्ष की रक्षा करने में समर्थ नहीं हो सकतीं, क्योंकि वह अग्रभाग ही उसका वीज़ है।

तो चोटी का मामला वड़ा जवर्दस्त है। आपको मालूम होगा कि मुसलमानों और सिक्खों में ३६ के अङ्क की तरह सदा विरोध

रहा है मुसलमान समझते थे कि ये सिक्ख हमारे जानी दुश्मन हैं। प्रारम्भ से दोनों जातियों में संघर्ष रहा है। तो जब पाकिस्तान और हिन्दुस्तान के रूप में भारत का विभाजन हुआ को पाकिस्तानवर्त्ती कई सिक्खों ने दाढ़ी मूछ और मस्तक के बाल कटवा लिये। क्योंकि वे समझते थे कि अगर केश होंगे तो मुसलमान सिक्ख समझ कर प्राण ले लेंगे। हिन्दुस्तान के कई नई रोशनी वालों ने भी चोटियाँ रख लीं, क्योंकि बिना चोटी वालों को मुसलमान समझ कर सिक्ख या हिन्दू मार देते थे। इस प्रकार उन बाबू लोगों को भी मौके पर चोटी की शरण लेनी पड़ी और चोटी ने भी उनके प्राणों की रक्षा करने में सहायता पहुँचाई।

तो ताड़वृक्ष का मूलाधार शिखा है। कोई-कोई वनस्पति ऐसी होती है जिसका बीज मूल के रूप में होता है। उसके मूल को एक जगह से उखाड़ कर अन्यत्र लगा दिया है। मूल ही उसका बीज है। कई वृक्ष पर्वबीज होते हैं, अर्थात् बीच की गांठें ही उनका बीज है। उनकी गांठें जमीन में बो दी जाती हैं और वे उग आते हैं जैसे, सांठा—ईख वगैरह। इस प्रकार हजारों प्रकार की वनस्पतियाँ हैं जो गठां पर निर्भर हैं।

कई वृक्ष कन्दबीज होते हैं। कइयों की डालियाँ काट कर धरती में रोप दी जाती हैं और वही डालियाँ वृक्ष का रूप धारण कर लेती हैं।

किसी वनस्पति की लता चलती है। कोई बीजरूप होती है। शास्त्र में चौबीस प्रकार के धान्यों का जो वर्णन आता है, वे सब बीज रूप हैं।

कोई-कोई वनस्पति ऐसी भी होती है जो मिट्टी पानी आदि के संयोग से अपने आप उत्पन्न हो जाती हैं। उन्हें सम्मूर्छिम वनस्पति कहते हैं।

तो आशय यह है जैसे ताड़ या खजूर वृक्ष की चोटी कट गई तो फिर वृक्ष को, टहनियों को या अन्य किसी भाग को काटने की आवश्यकता नहीं रहती; वह अपने आप सूख जाता है, उसी प्रकार समस्त कर्मों के बीज रूप मोहनीय कर्म को यदि नष्ट कर दिया जाय तो शेष कर्म स्वतः नष्ट हो जाते हैं। ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म तो मोहनीय कर्म के नष्ट होने पर ठहर ही नहीं पाते। मोह-नाश के बाद अन्तर्मुहूर्त मात्र काल में इन तीनों कर्मों का समूल उन्मूलन हो जाता है। ये कर्म जो कूदते हैं सो मोहनीय कर्म के बल पर ही कूदते हैं। उसके अभाव में इन बेचारों की एक भी नहीं चलती।

तो मोहनीय कर्म को जीत लेने पर शेष कर्म उसी प्रकार निर्मूल हो जाते हैं, जैसे चोटी कट जाने पर ताड़ का सारा का सारा वृक्ष ही निर्मूल हो जाता है। इस प्रकार मोह के नष्ट होने पर तीन कर्म तो उसी समय नष्ट हो जाते हैं, जिन्होंने केवलज्ञान, केवलदर्शन और अनन्तवीर्य को रोक रक्खा था और आत्मा को अनात्मभाव की ओर मोड़ रक्खा था। इस प्रकार मोहनीय कर्म के नष्ट हो जाने पर वे आत्मिक गुण प्रकट हो जाते हैं।

यह मोहनीय कर्म ही सब से बलवान् है। यह २८ प्रकार के रूप धारण करके आत्मा पर आक्रमण करता है। इसके समाप्त होने पर इसके साथी भी समाप्त हो जाते हैं। मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, मनःपर्यायज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण, यह ज्ञानावरण

कर्म के पाँच भेद हैं। इन्होंने हमारी मति पर पर्दा डाल रक्खा है जिससे हम किसी वात को समझ नहीं सकते या फौरन नहीं समझ सकते। हमारी वह विशिष्ट ग्राहक शक्ति दव गई है। लाउड स्पीकर (ध्वनि विस्तारक यन्त्र) में विजली की शक्ति अधिक होती है तो ग्रहणशक्ति भी अधिक होती है और विद्युत-शक्ति कम होती है तो उसकी आकर्षणशक्ति भी कम होती है। इसी प्रकार जव ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम अधिक होता है तो हमारी ग्राहक शक्ति भी अधिक होती है और जव क्षयोपशम में कमी होती है तो ग्राहकशक्ति में भी कमी हो जाती है।

हाँ, लाउड स्पीकर का कनेक्शन कट सकता है, किन्तु आत्मा के साथ चेतना का सम्वन्ध है वह कदापि नहीं टूट सकता। अगर चेतना का सम्वन्ध आत्मा से कट जाए तो जीव अजीव हो जाए–जड़ की कोटि में हो जाए। किन्तु ऐसा होना असम्भव है,क्योंकि एक द्रव्य पलट कर कभी दूसरा द्रव्य नहीं वनता। यह सत्य है कि प्रत्येक द्रव्य में प्रतिक्षण परिवर्तन का प्रवाह चलता रहता है और कभी-कभी वह परिवर्त्तन वड़ा विलक्षण भी होता है, तथापि द्रव्य का द्रव्यत्व कभी नष्ट नहीं होता।

जैसे द्रव्य अपने मूल स्वरूप में नित्य है अर्थात् द्रव्य त्रिकाल में वही द्रव्य वना रहता है, उसी प्रकार द्रव्य के गुण भी अपने मूल रूप में नित्य हैं। उनके भी सिर्फ पर्याय वदलते हैं। जीव का प्रधान और असाधारण गुण चेतना है। वह नाना रूप धारण करता रहता है, मगर सर्वथा नष्ट नहीं होता। ज्ञानावरण कर्म का प्रवल उदय होने पर उसमें मन्दता आ जाती है, तथापि उसकी समूल सत्ता का विनाश करने की सामर्थ्य ज्ञानावरणकर्म में नहीं है।

सज्जनो ! आत्मा को कर्मों के साथ संघर्ष करते अनंत-अनंत काल व्यतीत हो चुका है। अनादि काल से आत्मा कर्मों से बद्ध है तथापि वे आत्मा की चेतनाशक्ति को समूल नष्ट नहीं कर सके और न नष्ट कर ही सकेंगे। निगोद जैसी निकृष्ट से निकृष्ट अवस्था में भी चेतना की कुछ किरणें स्फुरायमान रहती ही हैं।

जव आत्मिक शक्ति में वृद्धि होती है तो आत्मा चमक उठती है और जव कर्मों की शक्ति विकसित होती है तो आत्मा की चमक कम हो जाती है। जैसे हवा के कारण अग्नि चमक उठती है, उसी प्रकार क्षयोपशम का निमित्त मिलने पर आत्मा की ज्योति वृद्धिगत हो जाती है।

ईंधन आदि का योग न मिले तो आग बुझ जाती है, पर जीव का चेतना गुण कभी नहीं बुझ सकता। जैन शास्त्रों में अग्नि में भी जीवों की सत्ता स्वीकार की गई है और अग्निकाय के जीवों की आयु तीन दिन-रात की मानी गई है।

ज्ञानी पुरुषों का कथन है कि एक तिनके की आग में भी असंख्यात जीव होते हैं। इसी कारण जैन साधु अग्नि को छूते नहीं और अग्नि से कोई चीज अड़ी हुई हो तो उसे लेते भी नहीं। यह साधुओं की सूक्ष्म अहिंसा है। गृहस्थ इस प्रकार की अहिंसा का पालन नहीं कर सकते।

प्रश्न किया जाता है कि यदि अग्निकाय के जीव तीन दिन-रात से अधिक जीवित नहीं रह सकते तो जंगल में लगी हुई आग और कुंभार के आपाक (आवे) में प्रज्वलित की हुई आग कई दिनों तक कैसे रह सकती है? अग्निकाय के जीवों की आयु सिर्फ

तीन दिन-रात की मानने पर यह बात किस प्रकार संगत हो सकती है?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि एक बार उत्पन्न हुए अग्निकाय के जीव तीन दिन-रात में खत्म हो जाते हैं, मगर नए-नए जीव उत्पन्न होते रहते हैं। कोई भी एक जीव तीन दिन-रात में अधिक न रहने पर भी उनका दौर चालू रहता है। उदाहरणार्थ—ब्यावर ही को या किसी भी नगर को ले लीजिए। मनुष्यों के जन्म एवं मरण का प्रवाह चलता रहता है। कोई भी एक मनुष्य नगर की स्थापना से लेकर आज तक जीवित नहीं है, तथापि सन्तति अविच्छिन्न रूप से चलती रहती है। यही बात—दावानल के जीवों के विषय में भी समझना चाहिए।

तो भले ही हमें अग्निकाय के जीवों की मृत्यु और उत्पत्ति का पता न चले, किन्तु उनका जन्म-मरण होता रहता है। वे जीव असंख्यात हैं। कोई जन्मता है, कोई मरता है और उनकी धारा चलती रहती है। फिर भी अग्नि के किसी भी एक जीव की उम्र तीन दिन-रात से अधिक नहीं है। ज्ञानियों की दृष्टि में उनके जन्म-मरण का चक्र स्पष्ट रूप से झलकता रहता है।

भोजनादि पकाने में अग्नि काम आती है उसे बादर—स्थूल अग्नि कहते हैं। अब भी जहाँ अकर्मभूमि मनुष्य हैं उन क्षेत्रों में वह अग्नि नहीं है। ऐसा हो सकता है, परन्तु दुनिया में कभी अग्नि का सर्वथा अभाव नहीं होता। न तो सूक्ष्म अग्निकाय का अभाव होता है और न वादर अग्निकाय का ही। पाँच सूक्ष्म स्थावर भी अनादिकाल से हैं और वादर भी अनादिकाल से हैं।

इस प्रकार आत्मा की चेतना मन्द हो जाती है, पर नष्ट नहीं हो सकती।

आत्मा ज्यों-ज्यों निखरता है, परिमार्जित होता है, त्यों-त्यों उसकी चेतनाशक्ति का विकास होता चला जाता है। ज्ञानावरणकर्म ज्यों-ज्यों निर्बल होता है, त्यों-त्यों विकसित होती है।

ज्ञानावरण कर्म पाँच प्रकार का है। उनमें पहला भेद मति-ज्ञानावरणीय है। लोग कहते हैं—अमुक की मति मारी गई हैं। पर वास्तव में मति मारी नहीं जाती। सिर्फ बुद्धि पर पर्दा आ गया है जिसके कारण कोई बात समझ में नहीं आती। एक की बुद्धि किसी बात को शीघ्र ग्रहण कर लेती है और दूसरे की बुद्धि इतनी कुंठित हो जाती है कि वह प्रयत्न करके भी नहीं समझ पाता। इस अन्तर का कारण ज्ञानावरण कर्म है। मतिज्ञानावरण कर्म का उदय तीव्र होता है तो बुद्धि में मन्दता आ जाती है और ज्यों-ज्यों वह पर्दा दूर होता चला जाता है त्यों त्यों समझ भी बढ़ती जाती है।

दूसरा भेद श्रुतज्ञानावरण है, जिससे सुनने की शक्ति पर पर्दा पड़ जाता है।

तीसरा अवधिज्ञानावरणीय कर्म है। अवधिज्ञान से समस्त

तीन दिन-रात की मानने पर यह वात किस प्रकार संगत हो सकती है ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि एक वार उत्पन्न हुए अग्निकाय के जीव तीन दिन-रात में खत्म हो जाते हैं, मगर नए-नए जीव उत्पन्न होते रहते हैं। कोई भी एक जीव तीन दिन-रात में अधिक न रहने पर भी उनका दौर चालू रहता है। उदाहरणार्थ—व्यावर ही को या किसी भी नगर को ले लीजिए। मनुष्यों के जन्म एवं मरण का प्रवाह चलता रहता है। कोई भी एक मनुष्य नगर की स्थापना से लेकर आज तक जीवित नहीं है, तथापि सन्तति अविच्छिन्न रूप से चलती रहती है। यही वात—दावानल के जीवों के विपय में भी समझना चाहिए।

तो भले ही हमें अग्निकाय के जीवों की मृत्यु और उत्पत्ति का पता न चले, किन्तु उनका जन्म-मरण होता रहता है। वे जीव असंख्यात हैं। कोई जन्मता है, कोई मरता है और उनकी धारा चलती रहती है। फिर भी अग्नि के किसी भी एक जीव की उम्र तीन दिन-रात से अधिक नहीं है। ज्ञानियों की दृष्टि में उनके जन्म-मरण का चक्र स्पष्ट रूप से झलकता रहता है।

तो मैं कह रहा था कि एक अवसर आएगा और आग की चमक सदा के लिए विलीन हो जाएगी, परन्तु आत्मा की चेतना तो कदापि नष्ट होने वाली नहीं है। यह वह चिंगारी है जो बुझ जाना जानती ही नहीं है।

ज्ञानी जनों ने वतलाया है कि एक युग ऐसा भी आता है, जिसे युगलिया युग कहते हैं, जव वादर अग्निकाय नहीं होती जो

भोजनादि पकाने में अग्नि काम आती है उसे बादर—स्थूल अग्नि कहते हैं। अब भी जहाँ अकर्मभूमि मनुष्य हैं उन क्षेत्रों में वह अग्नि नहीं है। ऐसा हो सकता है, परन्तु दुनिया में कभी अग्नि का सर्वथा अभाव नहीं होता। न तो सूक्ष्म अग्निकाय का अभाव होता है और न बादर अग्निकाय का ही। पाँच सूक्ष्म स्थावर भी अनादिकाल से हैं और बादर भी अनादिकाल से हैं।

इस प्रकार आत्मा की चेतना मन्द हो जाती है, पर नष्ट नहीं हो सकती।

आत्मा ज्यों-ज्यों निखरता है, परिमार्जित होता है, त्यों-त्यों उसकी चेतनाशक्ति का विकास होता चला जाता है। ज्ञानावरणकर्म ज्यों-ज्यों निर्बल होता है, त्यों-त्यों विकसित होती है।

ज्ञानावरण कर्म पाँच प्रकार का है। उनमें पहला भेद मति-ज्ञानावरणीय है। लोग कहते हैं—अमुक की मति मारी गई हैं। पर वास्तव में मति मारी नहीं जाती। सिर्फ बुद्धि पर पर्दा आ गया है जिसके कारण कोई बात समझ में नहीं आती। एक की बुद्धि किसी बात को शीघ्र ग्रहण कर लेती है और दूसरे की बुद्धि इतनी कुंठित हो जाती है कि वह प्रयत्न करके भी नहीं समझ पाता। इस अन्तर का कारण ज्ञानावरण कर्म है। मतिज्ञानावरण कर्म का उदय तीव्र होता है तो बुद्धि में मन्दता आ जाती है और ज्यों-ज्यों वह पर्दा दूर होता चला जाता है त्यों-त्यों समझ भी बढ़ती जाती है।

दूसरा भेद श्रुतज्ञानावरण है, जिससे सुनने की शक्ति पर पर्दा पड़ जाता है।

तीसरा अवधिज्ञानावरणीय कर्म है। अवधिज्ञान से समस्त

लोक के रूपी पदार्थ जाने जा सकते हैं, किन्तु यह कर्म उसे रोक रखता है।

मनःपर्यवज्ञान से दूसरे के मन की बात जानी जा सकती है, मगर आज हमारे अन्दर वह शक्ति क्यों नहीं है ? इसका उत्तर है— मनःपर्यवज्ञानावरण ने उस पर पर्दा डाल दिया है। ज्यों-ज्यों वह पर्दा हटता जाता है, मनोद्रव्यों को साक्षात् जानने की शक्ति विकसित होती जाती है।

अवधिज्ञान चारों गतियों के जीवों को हो सकता है, पर मनःपर्यवज्ञान सिर्फ मनुष्य गति में ही हो सकता है। मनुष्यगति में भी केवल संयमी साधु को और साधुओं में भी अप्रमत्त तथा ऋद्धि-प्राप्त साधुओं को ही होता है।

यद्यपि अवधिज्ञानी भी मनोवर्गणा के पुद्गलों को, जो मन के रूप में परिणत है, जानता है; यद्यपि कभी २ थानेदार भी तहसीलदार की ड्यूटी बजा देता है किन्तु जो अधिकार तहसीलदार को है वह थानेदार को नहीं है। थानेदार थानेदार ही है और तहसीलदार तहसीलदार ही है। इसी प्रकार मन की बात समझने की जो शक्ति मनःपर्यय ज्ञान में है, वह अवधिज्ञान में नहीं है। तो अवधि ज्ञान से भी मनोगत भाव सामान्यतया जाने जा सकते हैं। जैसे कृष्ण महाराज ने तेला किया। देवता ने अवधि ज्ञान में उपयोग लगाया और उनकी सेवा में हाजिर हो गया। सुलसा ने भी तेला किया उसके पास भी अवधि ज्ञान से सुलसा के मनोगत भाव जान कर देवता आ गया। अगर अवधि ज्ञान से ही काम चल जाता तो मनःपर्ययज्ञान को पृथक् मानने की आवश्यकता ही न होती।

ज्ञानावरणीय कर्म का पाँचवाँ भेद केवलज्ञानावरणीय है। प्रत्येक आत्मा में अखिल विश्व को—लोकालोक को और तीनों कालों के समस्त पदार्थों को युगपद् प्रत्यक्ष जानने का सामर्थ्य विद्यमान है, परन्तु इस सामर्थ्य को जो कर्म रोकता है, वह केवलज्ञानावरण कहलाता है।

दीपक में सम्पूर्ण कमरे को प्रकाशित करने की शक्ति है, मगर उसके ऊपर ढक्कन रख दिया जाता है तो वह अन्दर ही अन्दर प्रकाश करता है। इसी प्रकार आत्मा में समग्र लोकालोक को जानने की शक्ति है किन्तु पर्दा आ जाने से वह दब गई है।

और यह पर्दा यों ही नहीं आ गया है; हमने ही उसे उत्पन्न किया है। लोग झूठ बोलते है, छल करते हैं, विश्वासघात करते हैं, वंचना करते है और जब ऐसी स्थिति आती है तो फिर पर्दे पर पर्दा डालते है। जैसे बजाज थान खोल कर ग्राहक को दिखलाता है और तह पर तह जमाता जाता है तो पाटिया दिखाई नहीं देता। हाँ, अगल-बगल का थोड़ा-सा हिस्सा अवश्य दिखाई देता है। इसी प्रकार आत्मा रूपी पाटिये को भी कर्मों ने दबा रक्खा है। इस पर अनन्त कर्मों के प्रदेश रूपी पर्दे पड़े है।

किन्तु यह मनुष्य जन्म उन पर्दो को दूर करने के लिए मिला है। पर्दा डालने का अवसर तो सभी योनियों में मिलता है, मगर यह मनुष्ययोनि ही ऐसी है जिसे पाकर पर्दा दूर किया जा सकता है। मगर आश्चर्य है! खेद है! ऐ मनुष्य, तुझे किधर जाना था और किधर चल दिया। तूने तो भूलों का रास्ता पकड़ लिया है। ऐसी स्थिति में तू पर्दा दूर कैसे कर सकेगा? आज तो साधारण प्रामाणिकता ही दूर होती जा रही है! बड़ी ही विषम स्थिति आ

गई है ! हम जैसे तो संसार व्यवहार से बहुत कुछ अलग ही रहते हैं, फिर भी जब किसी से कुछ काम पड़ता है तो ऐसा प्रतीत होता है कि उसकी प्रामाणिकता ही चली गई है। कितने खेद की बात है कि आज पिता को पुत्र पर और पुत्र को पिता पर विश्वास करना भी कठिन हो गया है। तभी तो पिता अपनी तिजोरी की चाबी अलग रखता है और पुत्र अपनी चाबी अपने पास रखता है।

अरे दुनिया के लोगो ! एक ही घर है और एक ही परिवार है। मगर एक को दूसरे पर भरोसा नहीं है। यह सब अप्रामाणिकता का ही फल है। जीवन में प्रामाणिकता बड़ी चीज है। जिसके जीवन में प्रामाणिकता है, उसकी प्रत्येक बात पर और प्रत्येक आचरण पर विश्वास किया जाता है। वह जो कुछ कह देता है, वही कर दिखाता है। शत्रु भी उसकी बात पर विश्वास करते हैं और उस पर किसी को सन्देह नहीं होता।

मगर आज यह स्थिति कहाँ है ? आज तो कहनी और करनी में कोई मेल ही दिखाई नहीं देता। लोग कहते कुछ हैं और करते कुछ हैं। सिर पर कोई जिम्मेवारी ले लेते हैं पर उसे पूरा करने की तनिक भी चिन्ता नहीं करते। जो घर वालों का भी विश्वासपात्र नहीं बन सकता, वह दूसरों का विश्वास कैसे सम्पादन कर सकता है ?

ऐ मनुष्य ! तेरा आसन, तेरा दर्जा सब से ऊंचा है। तू जगत् में सर्वश्रेष्ठ प्राणी है और परमात्मा के पद पर पहुँचने की क्षमता तुझमें है, फिर भी तू काले पर काला मुख करता जा रहा है और अपना दिवाला निकालता जा रहा है। तेरे लिए इससे अधिक लज्जा की बात और क्या हो सकती है ?

श्रावक को तो इतना प्रामाणिक होना चाहिए कि जो एक वार मुख से कह दे वह वज्रलेख हो जाय। 'प्राण जाएँ पर वचन न जाई' यह उसका मुद्रालेख होना चाहिए। उसे सर्वस्व की परवाह न करके भी अपने दिये वचन का पालन करना चाहिए। उसका वचन अन्यथा नहीं होना चाहिए। जब ऐसा होता है तो लोग नेत्र मूँद कर उसकी वात पर विश्वास करते हैं। क्षण भर के लिए भी उस पर कोई अविश्वास नहीं कर सकता। मगर आज स्थिति और ही प्रकार की वन गई है। जिन्हें दूसरों को अपने पथ पर चलाना चाहिए था—चलने की प्रेरणा देनी चाहिए थी, वे स्वयं पथभ्रष्ट हो रहे हैं। वे कैसे दूसरों को सही राह पर चला सकते हैं? जो दीपक स्वयं ही वुझ रहा है, वह दूसरों को क्या प्रकाश दे सकता है ?

तो निश्चय समझो की प्रामाणिकता के विना मनुष्य की कोई कीमत नहीं है। प्रामाणिकता ही मनुष्य को महत्ता प्रदान करती है। अप्रामाणिक मनुष्य स्वयं अपना भी हित नहीं कर सकता तो दूसरों का तो कर ही क्या सकता है ? जो पुष्प स्वयं ही निर्गन्ध है, वह दूसरों को सुगन्ध प्रदान करेगा, यह तो आशा ही कैसे की जा सकती है ?

साधु का दर्जा श्रावक से भी ऊँचा है। हम साधु कहलाते हैं तो हमारे अन्दर पूर्ण प्रामाणिकता होनी चाहिए। हमें साधु होने का गौरव प्राप्त है तो हम में वास्तविक साधुता होनी ही चाहिए। जो साधुताहीन होकर भी साधु होने का दावा करता है, उससे वढ़ कर अप्रामाणिक—धोखेवाज़ और कौन होगा ?

सज्जनो ! तो श्रावक का भी जीवन इतना मंजा हुआ होना चाहिए कि प्रत्येक परिस्थिति में लोग उसका विश्वास करें। वह

जहाँ कहीं खड़ा हो, आसपास में विश्वास और प्रामाणिकता का ही वायुमंडल पैदा कर दे। श्रावक का जीवन ऐसे प्रकाशस्तम्भ के समान होना चाहिए, जिससे दुनिया प्रकाश लेती है। मगर आज कहाँ है आपके जीवन में प्रकाश ? जब आपके जीवन में प्रकाश होगा तभी तो दूसरे भी उसे ले सकेंगे। आपका ही जीवन प्रकाशशून्य होगा तो दूसरों को कैसे प्रकाश मिल सकेगा ?

आज आप लोग श्रावक होने का दावा करते हैं और आर्य होने का अभिमान रखते हैं, परन्तु कहाँ है आपके जीवन में आर्यत्व ? कहाँ है प्रामाणिकता ?

विदेशियों को लोग अनार्य कहते हैं। उन्हें आपके धर्म के संस्कार नहीं मिले है, फिर भी उनमें जो व्यावहारिक प्रामाणिकता है, वह क्या आपमें है ? हम तो गुणों के ग्राहक हैं। जो भ्रमर है, वह तो फूल की बहार ले ही लेता है, चाहे वह किसी का भी क्यों न हो ? वह तेरे-मेरे के झगड़े में नहीं पड़ता। इसी प्रकार हमें गुण ग्रहण करने चाहिए, फिर वे भले कहीं से भी मिलें। हमें उदारभाव से गुणग्राहक होना चाहिए। तो जिनको हम धर्मविहीन और भौतिकवाद का पुजारी कहते हैं,उनके जीवन को देखो। आपको पता चलेगा कि बहुत-सी बातें उनमें ऐसी हैं जो आपके लिए भी अनुकरणीय हैं। उनका व्यापार और व्यवहार भारतीयों की अपेक्षा अधिक प्रामाणिकतापूर्ण होता है। वे लोग अच्छी कह कर खराब चीज़ नहीं बेचते। जितना नापेंगे और तोलेंगे, बराबर उतना ही होगा। कपड़ा कटपीस का होगा तो उस पर वही लिखा होगा। खराब होगा तो उस पर खराब ही लिखा होगा। वे अच्छी चीज़ में खराब चीज़ मिला कर नहीं बेचेंगे। इस प्रकार की प्रामाणिकता धर्म के बिना जीवन में नहीं आती।

अगर व्यापारिक दृष्टि से देखा जाय तो भी तुम्हें जितना लाभ मिलना चाहिए, उतना नहीं मिलता है। प्रामाणिकता से कभी कोई घाटे में नहीं रहता। संभव है, पहले-पहल ऐसा प्रतीत हो कि प्रामाणिक व्यवहार करने से हमें कुछ हानि हो रही है, किन्तु शीघ्र ही आपकी समझ में आ जाएगा कि आप टोटे में नहीं हैं। ज्यों ही आपकी प्रामाणिकता की छाप दूसरों पर लग जायगी, आपका व्यापार चमक उठेगा और आप अप्रामाणिक व्यापारी की अपेक्षा अधिक सफलता प्राप्त करेंगे। ऐसा करके आप अपने धर्म का महत्त्व बढ़ाएँगे, अपनी आत्मा का भी कल्याण करेंगे और साथ ही लौकिक सफलता भी अधिक प्राप्त कर सकेंगे।

विलायतों में भाव-ताव या मोल-तोल नहीं करना पड़ता। प्रत्येक चीज़ का मूल्य उस पर अंकित रहता है। ग्राहक दुकान पर जाता है और मूल्य देख कर चुका देता है। वह जानता है कि कीमत ठीक ही लिखी है और कम नहीं होगी। दुकानदार पहले ही उचित कीमत लगाता है, अतएव कम-ज्यादा करने का प्रश्न ही खड़ा नहीं होता। बच्चा जाय या बूढ़ा, स्त्री जाय या पुरुष, जानकार जाय या अनजान, एक ही बात है। ठगे जाने की कोई संभावना नहीं।

स्यालकोट की बात है। वहाँ छावनी में गये तो एक भाई कहने लगे—हिन्दुस्तानी आते हैं तो दिमाग खाली कर देते हैं और अंगरेज़ आते हैं तो चुपचाप माल ले लेते हैं और भाव के अनुसार दाम दे देते हैं।

अंगरेजों से उनका क्या नाता था? पर जो सत्य है वह जबान पर आ ही जाता है।

अंगरेज इस विशाल देश पर इतने लम्बे समय तक शासन कर सके, इसका कोई कारण तो होना ही चाहिए। उनमें कुछ ऐसी विशेषतायें हैं जो आपको सीखने योग्य हैं। किसी की कितनी ही खूबसूरत बहू-बेटी क्यों न हो, असली नस्ल का अंगरेज उसकी ओर बुरी दृष्टि से नहीं देखेगा। और हिन्दुस्तानियों में क्या होता है? धर्म-क्रिया—सन्ध्या आदि करते समय भी क्या उनका मन और दृष्टि वश में रहती है? कितने दुर्भाग्य की बात है कि जो स्थान धर्मस्थान कहलाते हैं, उनमें भी दुराचार की बहुत-सी घटनाएँ सुनी जाती हैं। मगर गिर्जाघर में जाकर देखो तो वहाँ इतनी शान्ति मिलेगी कि सुई गिरने की आवाज़ भी सुनाई दिये बिना न रहे। वे बड़ी शान्ति के साथ उपासना करते हैं।

तो ये सब बातें उनसे सीखने योग्य हैं। गुण जहाँ से भी मिलें, ग्रहण कर लेना चाहिए।

विलायत में वहाँ की पार्लियामेंट का एक सदस्य था, जिसका नाम फॉक्स था। वह ऊँचे दर्जे का आदमी था। वह इतना प्रामाणिक माना जाता था और लोगों को उसके वचनों पर इतना विश्वास था कि उसके विरोधी मन्तव्य वाले भी सराहना करते थे। सब पर उसकी छाप अंकित थी।

एक बार वह अपने घर पर बैठा हुआ रुपये गिन रहा था। उसने किसी साहूकार से ऋण ले रक्खा था। संयोगवशात् उसी समय उसका साहूकार-बोहरा—आ पहुँचा। बही-खाता उसके साथ था। जब फॉक्स ने कर्ज माँगने वाले को देखा तो उसे आदर के साथ बिठलाया। साहूकार ने कहा—महाशय, मेरा कर्ज लिये बहुत समय

हो गया है। अभी तक उसका भुगतान नहीं हुआ। इस समय आपके पास रुपये हैं। अतः दे दीजिये।

फॉक्स ने कहा—इसमें कोई शक नहीं कि मुझे कर्ज देना है और आपको लेना है।

साहूकार—तो फिर दे दीजिए, ऐसा अनुकूल अवसर फिर कौन जाने कब आएगा ?

फॉक्स—इस समय इन रुपयों में से एक भी पाई मैं आपको नहीं दे सकता।

साहूकार तो क्या आप कर्ज अदा करना नहीं चाहते।

फॉक्स—नहीं, ऐसा नहीं है। परन्तु इस समय ये रुपये मैं अपने मित्र शिरिड के लिए गिन रहा हूँ, क्योंकि मैं उससे रुपये लाया था और उसने मुझसे कोई दस्तावेज़ नहीं लिखवाया है। मौखिक ही लेनदेन हुआ है। इस जीवन का क्या भरोसा है ? अभी है और अभी नहीं। कदाचित् मेरी जिन्दगी अचानक समाप्त हो गई तो उसका रुपया मारा जा सकता है। अतएव मैं पहले उसका रुपया चुका देना चाहता हूँ। इसके पश्चात् तुम्हारा कर्ज चुकाऊँगा। तुम्हारे पास मेरा लिखा दस्तावेज है। यदि मैं मर जाऊँ तब भी तुम मेरे लड़के से रुपया वसूल कर सकोगे। परन्तु जिस दूसरे का ऋण मुझे देना है उसके पास कोई दस्तावेज़ नहीं है। यदि मेरी सन्तान मेरे बाद न चुकाए तो यह वसूल कैसे कर सकता है।

फॉक्स का स्पष्टीकरण सुन कर वह साहूकार अत्यन्त प्रभावित हुआ। उसके हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ा। उसने सोचा—यह आदमी नहीं देवता है। इसको दिया रुपया मारा नहीं जा सकता।

साहूकार इतना प्रभावित हुआ कि उसने फॉक्स के लिखे दस्तावेज़ को उसी समय फाड़ कर फैंक दिया।

कागज फाड़ते देख फॉक्स ने पूछा—आपने यह क्यों फाड़ दिया ?

साहूकार—महाशय फॉक्स, जब तुम्हारे जैसा प्रामाणिक व्यक्ति मेरा कर्जदार है तो फिर दस्तावेज़ का बोझ उठाये फिरने की आवश्यकता ही क्या है ? तुम्हारा निर्मल अन्तःकरण ही सर्वोत्तम दस्तावेज़ है। उससे बढ़ कर दूसरा कोई दस्तावेज़ नहीं हो सकता। इस दस्तावेज़ को आग भस्म कर सकती है, चोर चुरा कर ले जा सकता है, पानी में वह गल सकता है, पर आपकी जबान का दस्तावेज़ अमर है। उसके लिए कोई खतरा नहीं है।

सज्जनो, अगर विचार करो और समझो तो यह कितनी बड़ी बात है ! अगर फॉक्स जैसे मनुष्य ही इस धरती पर हों तो पारस्परिक अविश्वास, सन्देह और बेईमानी की कहीं आवश्यकता ही न रहे।

किसी ने किसी से पूछा—मैं कैसा हूँ ?

उत्तर मिला—भाई, तू अपने ही दिल से पूछ ले।

तू जैसा है, संसार वैसा ही है। यदि तू भला है तो तेरे लिए संसार भला है।

साहूकार की उदारता की बात सुन कर फॉक्स को भी आश्चर्य हुआ। दस्तावेज़ के फटने से वह प्रभावित भी हुआ। तब उसने कहा—महाशय, दस्तावेज़ फाड़ डालने के कारण आप भी मेरे उसी मित्र की श्रेणी में आ गए। अब सारे मामले पर मुझे दुबारा विचार करना पड़ेगा।

मैंने आपसे पहले और मित्र से पीछे कर्ज लिया है। उसके पास गुन्जाइश है और आप माँगने आए हो, अतः प्रतीत होता है कि आपको रुपए की आवश्यकता है। तो यह रुपये मैं आपको ही देता हूँ। उस मित्र को पीछे दूँगा।

फॉक्स ने हिसाब करके साहूकार को रुपए देने चाहे तो साहूकार ने कहा—महाशय, ये रुपये जिसके निमित्त आप गिन रहे थे, पहले उसी को दे दीजिए। मैं पीछे ले लूंगा।

मगर फॉक्स न माना और उसने आना-पाई के साथ उसका रुपका चुकता कर दिया।

सज्जनो ! जब तक साहूकार को पूरा भरोसा नहीं था, तब तक उसे अपनी रकम की चिन्ता हो रही थी। पर जब देने वाले में सत्य और ईमान था और लेने वाले में भी विश्वास आ गया तो रुपये मिलने में कुछ भी देर नहीं लगी।

तो अविश्वासी मनुष्य दुनिया में भटकता फिरता है, किन्तु अपने उद्देश्य में सफल नहीं होता।

इसे कहते हैं जीवन की प्रामाणिकता। इस प्रकार की प्रामाणिकता जीवन को कितना पवित्र, उच्च, सात्विक, और सुखमय बना देती है !

आज का सामाजिक जीवन कितना गंदा, कितना कलुषित और कितना शंकाशील बन गया है ? आज दस्तावेज़ पर, अंगूठे पर, और गवाह पर भी भरोसा नहीं किया जा सकता। लोग कहते हैं—

छोटे-छोटे मुकदमे, मोटे-मोटे गवाह ।
गरमागरम कचौड़ियाँ खाकर लोग हुए हैं तवाह ॥

आज जिधर देखो उधर ही वड़े-बड़े मगर छोटी-छोटी मछलियों को निगल रहे हैं और निकल कर डकार भी नहीं लेते। फिर भी वे समाज में चौधरी वने रहते हैं। किन्तु यह सव चन्द दिनों की लीला है।

अगर धर्म की रक्षा करते हुए दुःख के दिन निकालोगे तो सुख का समय जाते विलम्व नहीं लगेगा, किन्तु धर्म को छोड़ कर सुख में भी रहोगे तो परिणाम में दुःख उठाना ही पड़ेगा।

तुलना करके देखो तो सही। कहाँ भगवान् महावीर के देश में रहने वाले आज के आर्यों का जीवन और कहाँ दूर देश में रहने वाले अंगरेजों का जीवन ! दोनों के जीवन में कितना अन्तर है ! औरों की तो वात छोड़ दीजिए, आज कई लोग साधु के समक्ष प्रतिज्ञा करके और किसी वात का वायदा करके भी मुकर जाते हैं। भारत वासियों की प्रामाणिकता का यह हाल है।

परन्तु निश्चय मानो कि अन्ततः प्रामाणिकता ही साथ देगी। यह जीवन वार-वार मिलने वाला नहीं है। अतः इसे सफल और सुन्दर वनाने के लिए तुम्हारी प्रत्येक क्रिया में, वोली में और व्यवहार में प्रामाणिकता होनी चाहिए और दूसरों को विश्वास होना चाहिए।

मूल के विना किसी को व्याज नहीं मिल सकता। अगर मूल ही कट गया तो फिर छाया, फल, फूल, पत्ते आदि भी नहीं मिलेंगे।

उनकी लकड़ियाँ बन जाएँगी और आग में जला दी जाएँगी। जो मनुष्य अपने जीवन से पिछड़ जाते हैं, उनकी यही दशा होती है। जो अपने मार्ग से विचलित हो जाते हैं, वे दुनिया में ज़लील होकर अपना जीवन पूरा करते हैं। वे न इधर के रहते हैं और न उधर के रहते हैं।

यदि तुम दूसरों के काम आओगे तो दूसरे भी तुम्हारे काम आएँगे। कई लोग रोना रोते हैं—क्या करें, हमने तो सब को, मित्रों को, ग्राहकों कों, कुटुम्बियों को देख लिया, कोई भी मेरे काम नहीं आया।

हाँ भाई, तूने सब को देख लिया, सब की आजमाइश कर ली, किन्तु यह तो बता कि तू भी कभी किसी के काम आया है क्या? जब तू किसी के काम नहीं आया तो तेरे काम कौन आएगा?

सज्जनो, एक बड़ा भारी व्यापारी था। आस-पास के ग्रामों में उसका लाखों का लेनदेन था। जब गाँवों के लोग उसकी दुकान पर माल खरीदने के लिए आते तो वह भोजन की मनवार करना चाहता था, किन्तु हवेली में श्रीमती जी ऐसी कंटक और लोभिन थीं कि किसी को जिमाना ही नहीं चाहती थी। सेठानी जिमाना तो दूर रहा, पानी भी नहीं पिलाती थी। बेचारा सेठ आढ़तियों को जिमाना बहुत चाहते हुए भी सेठानी की प्रकृति का विचार करके मन मसोस कर रह जाता था और मनवार भी नहीं कर पाता था।

सेठ, सेठानी के गुस्से से बहुत घबराता था। भद्र पुरुष कलहशीलों से घबराते ही हैं। इस कारण आढ़ती लोग भूखे

ही वापिस चले जाते थे। इसी प्रकार कई वर्ष व्यतीत हो गये।

सेठ को कभी-कभी उघाई-वसूली के लिये देहात में जाना पड़ता था। वहाँ वे आढ़तिया भी उनके साथ वही सलूक करते जैसा सेठ ने उनके साथ किया होता था। परिणामस्वरूप कई वार सेठ जी को भूखा रहना पड़ता या पैसे देकर पूड़ियाँ वनवा कर पेट भरना पड़ता था। कई वार घर से ही भोजन साथ ले जाते और किसी तरह काम चलाते थे।

समय आया और सेठानी जी ने सदा के लिए कूच कर दिया। किन्तु उनके घर में जो पुत्रवधू आई थी, वह कुलीन घर की और उदार हृदय की नवयुवती थी। वह खाना और खिलाना भी जानती थी। अतएव अव जो भी आढ़तिया आते, सेठ जी उन्हें मनवार कर के भोजन कराने के लिए घर ले जाते और पुत्रवधू आदर्श गृहिणी की भाँति उनका यथोचित सत्कार करती और प्रसन्नतापूर्वक भोजन कराती थी।

यह क्रम चलते भी बहुत दिन हो गए। एक वार सेठ जी पुनः वसूली के लिए जाने को तैयार हुए तो पुत्रबधू से वोले—वेटा, पूड़ियाँ वना देना। आज मैं देहात जाऊँगा।

पुत्रवधू वोली—पिताजी, मैंने सव कुछ पहले ही वहाँ भेज दिया है। आप निश्चिन्त होकर पधारें।

सेठ—वहू, तूने कहाँ भेज दिया है ?

वहू—जहाँ कहीं आप पधारेंगे, वहाँ सव जगह भेज दिया है। आप जहाँ चाहेंगे वहीं सब कुछ मिलेगा।

वहू की अटपटी सी वात सेठ जी की समझ में पूरी तरह तो नहीं आई, फिर भी उन्होंने अधिक तर्क-वितर्क करना उचित न समझा। वहू की समझदारी पर उन्हें पूरा विश्वास भी था ही।

सेठजी देहात पहुँचे और आढ़तिया की दुकान पर पहुँचे। इस वार उसने सेठ जी की वड़ी खातिर की और घर लेजाकर प्रसन्नतापूर्वक माल-मिष्टान्न जिमाया।

इस प्रकार वह गाँव में भी गए, सर्वत्र उनकी मनवार हुई। सवने प्रेमपूर्वक उन्हें भोजन करवाया। कइयों ने एक-एक दो-दो दिन ठहरने का आग्रह किया और कहा—सेठ साहव, हमारे यहाँ भोजन किए विना तो आप नहीं जा सकते।

यह हाल देख कर सेठ जी वहू की वात समझ गए। उन्हें मालूम हो गया कि 'मैंने सव जगह भेज दिया है' वहू के इस कथन का आशय क्या था?

सज्जनो! थोड़े ही दिनों में कितना अन्तर पड़ गया? कहाँ तो सेठ पूड़ियाँ वाँध कर ले जाता था और कहाँ भोजन की ऐसी मनवार होने लगी। एक समय था कि कोई पूछता तक नहीं था और अव लोग पिण्ड नहीं छोड़ते थे! आखिर इस परिवर्तन का कारण क्या था?

सज्जनो! वह भी एक जीवन था कि पुत्रवधू ने अपने जीवन का सौरभ सर्वत्र विखेर दिया।

स्पष्ट है कि जो स्त्री वुद्धिमती और उदारहृदय होती है, वह घर को स्वर्ग वना देती है। इसके विपरीत फूहड़, जड़ और कलहशीला गृहिणी स्वर्गसदृश घर को भी नरकतुल्य वना डालती

है। सच पूछो तो परिवार के दु:ख-सुख की चावी गृहिणी के हाथ में है। सुयोग्य स्त्री अभावों की स्थिति में भी परिवार का ऐसी कुशलता से संचालन करती है कि अभाव खटकता नहीं। अयोग्य स्त्री सब प्रकार की सामग्री के विद्यमान रहने पर भी किसी को सन्तुष्ट नहीं कर पाती।

तो जो लोग ढोल पीटते हैं कि हमने ठोक बजाकर दुनिया को देख लिया—कोई हमारे काम नहीं आया। उनसे यही कहना है कि—जरा अपने दिल से भी तो पूछ लो कि तुम किसके काम आए हो ?

तो हृदय को उदार बनाओ और मोह की संकीर्ण मर्यादाओं को तोड़ डालो। सब अनर्थो के मूल मोहनीय कर्म का उन्मूलन कर दोगे तो केवलज्ञान प्रकट होकर ही रहेगा।

इस प्रकार जो मोहनीय कर्म की अट्ठाईस प्रकृतियों का क्षय करके आत्मिक गुणों को विकसित कर लेते हैं, वे संसार-समुद्र से पार हो जाते हैं।

ब्यावर
२३—१०—५६

मोहविजय का मार्ग

उपस्थित महानुभावो !

कल आप सुन चुके हैं कि यह आत्मा जब अपने आत्मिक बल से, आत्मज्ञान से या विवेक से राग, द्वेष और मिथ्यादर्शन पर विजय प्राप्त कर लेती हैं, इन तीनों विरोधी तत्त्वों को नष्ट कर देती है और अपनी ओर उन्मुख हो जाती है, तो उसमें एक विशेष प्रकार की उत्क्रान्ति आ जाती है, जागृति आ जाती है, उसका स्वरूप चमकने लगता है, उसे अद्‌भुत प्रकाश की अनुभूति होने लगती है और तब वह अपने आत्मतत्त्व को सीमचीन रूप से पहचानने योग्य बनती है। उस समय उसे दुनिया के भौतिक पदार्थ हेय प्रतीत होने लगते हैं। यह तो आवश्यक नहीं कि उसी समय वह उन सब का परित्याग कर दे, किन्तु उनकी ओर अरुचि अवश्य उत्पन्न हो जाती है। भोगोपभोग की सामग्री में जैसा आकर्षण पहले था, वह नहीं रह जाता। सब बाह्य पदार्थों के प्रति उसमें अनासक्ति और अलिप्तता आ जाती है। यही वह अवस्था है जब आत्मा अपने आपको ज्ञान, दर्शन और चरित्र की आराधना के योग्य बना लेती है।

जिसने अपनी आत्मा को ज्ञान, दर्शन और चरित्र के योग्य बना लिया है, उसमें इतना सामर्थ्य आ जाता है कि समस्त कर्मों पर विजय प्राप्त करने में उसे देर नहीं लगती। उसकी क्षमता का इतना विकास हो जाता है कि उसके समस्त कर्म निर्मूल हो जाते हैं।

यह भी बतलाया जा चुका है कि कर्मों के नाश का जो क्रम है, उसमें सर्वप्रथम मोहनीय कर्म की बारी आती है। गुणस्थान कर्म के हिसाब से कहा जाए तो दसवें गुणस्थान के चरम समय में मोहनीय कर्म का क्षय होता है। तत्पश्चात् क्षयक श्रेणी पर आरूढ आत्मा ग्यारहवें गुणस्थान को लाँघ कर सीधा बारहवें गुणस्थान में जा पहुँचता है। इस गुणस्थान की काल-मर्यादा सिर्फ अन्तर्मुहूर्त की है। अन्तर्मुहूर्त जितने अल्पकाल में ही आत्मा ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मों का क्षय कर डालती है।

सज्जनो ! इस कथन पर गंभीर विचार करोगे तो अनेक तथ्य आपके सामने आ जाएँगे। मोहनीय कर्म तो महाप्रबल हैं ही, मगर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मों की शक्ति भी कुछ कम नहीं है। इन्होंने क्रमशः केवलज्ञान, केवलदर्शन और अनन्तबल के आत्मिक खजाने पर ताला लगा रक्खा है। जीव की इन महान् शक्तियों को आच्छादित कर दिया है। मगर मोहनीय कर्म का क्षय हो जाने पर इनकी जड़ इस प्रकार हिल जाती है कि फिर इनका समूल विनाश होने में अन्तर्मुहूर्त जितना समय ही लगता है।

तो मोहनीय कर्म ही आत्मा का अत्यन्त शत्रु है। उसी ने आत्मा की शक्ति को कुंठित कर रक्खा है। जब तक वह आत्मा पर हावी रहता है, आत्मा दीन-हीन और असमर्थ बना रहता है। धीरे-धीरे उस पर विजय प्राप्त कर ली जाय तो मार्ग निष्कंटक हो जाता है। फिर कोई बड़ी बाधा नहीं रह जाती। मगर इस मोह को जीतना ही कठिन है। इसको नष्ट करने के लिए सम्पूर्ण शक्ति के साथ जूझना पड़ता है। प्रारम्भ से लेकर दसवीं श्रेणी गुणस्थान तक इससे संघर्ष करना पड़ता है। चौदह गुणस्थानों में से दस गुणस्थान

इस से निपटने में लगते हैं। ऊपर के शेष गुणस्थानों में बाकी के सातों कर्म भी समाप्त कर दिये जाते हैं।

शास्त्र की इस प्ररूपणा से स्पष्ट हो जाता है कि यह मोहनीय कर्म कितना प्रबल है। ज्यों ही मोह का सर्वथा विनाश हुआ कि मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव और केवलज्ञान को ढँक रखने वाले ज्ञानावरण का, दर्शन गुण को आच्छादित करने वाले दर्शनावरण का और अनन्तवीर्यशक्ति को दबा रखने वाले अन्तराय कर्म का सहज ही विनाश हो जाता है।

मोहनीय कर्म के क्षय से आत्मा में इतना सामर्थ्य आ जाता है और आत्मा को शुद्ध भावना का ऐसा पवन चलाता है कि शेष तीन घातिये कर्म उसके सामने ठहरने में सर्वथा असमर्थ हो जाते हैं और आत्मा रूपी आकाश स्वच्छ हो जाता है।

जब आत्मा-आकाश कर्म मेघों से धुंधला होता है तो लोक में रहे हुए पदार्थ भी धुंधले प्रतीत होते हैं और आकाश जितना स्वच्छ होता है, आकाशगत पदार्थ भी उतने ही स्वच्छ दिखाई देते हैं।

वास्तव में देखा जाय तो आकाश निराकार है, अमूर्त है और उसमें हमें जो मलीनता दृष्टिगोचर होती है, वह उसे छू भी नहीं पाती है। वह आकाश को विकृत या दूषित नहीं कर सकती; क्योंकि आँधी से उड़ाई जाने वाली रेत, धूल, धूम आदि मूर्तिक-साकार पदार्थ हैं और आकाश निराकार है। इस प्रकार तात्त्विक दृष्टि से आकाश निर्मल होने पर भी मलीन पदार्थों के संसर्ग के कारण मलीन दिखाई देता है। जब धूल, धूम, रेत, मेघ आदि पदार्थ हट जाते है तो आकाश निर्मल एवं स्वच्छ दिखाई देने लगता है।

आकाश अमूर्त द्रव्य है। इसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श नहीं हैं। वह अवर्ण, अगन्ध, अस्पर्श, अरस और अरूपी है। जैन शास्त्रों में द्रव्य छः माने गये हैं। इस असीम और अतिशय विशाल दिखाई देने वाले विश्व के मूल को खोजा जाय तो मूल में तो दो ही तत्त्व हैं—जीव-चेतन और अजीव-जड़। उपरोक्त इन दो तत्त्वों के ही विशेष रूप छः द्रव्य माने गये हैं। उनके नाम ये हैं—जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय आकाश और काल। इन छः द्रव्यों में से सिर्फ पुद्गल द्रव्य ही रूपी है, मूर्तिक है, साकार है, जिसे दूसरे लोग मेटर, माया, प्रकृति या मादा आदि शब्दों से पहचानते हैं।

संक्षेप में, एक मात्र पुद्गल द्रव्य ही मूर्त्तिमान् है और शेष ५ द्रव्य अमूर्त्तिक हैं। आत्मा भी आकाश की तरह अमूर्त्तिक है। उसमें रूप, रस, गन्ध, वर्ण, आकार आदि कुछ भी पौद्गलिक धर्म नहीं है।

प्रश्न हो सकता है कि यदि जीव अमूर्त्त है तो हमें यह चलते-फिरते गोरे-काले आदि क्या दिखाई देते हैं? इसका उत्तर यह है कि हमें जो गोरे-काले, अन्धे, लंगड़े, कुबड़े, बालक, नवयुवक, वृद्ध, स्त्री, पुरुष, नपुंसक आदि-आदि पृथ्वीपटल पर जो नक्शे, चित्र या साक्षात् बोलती फिल्म नज़र आती हैं, ये सब आत्मा के रूप नहीं हैं। ये तो पुद्गल के ही विभिन्न दृश्य हैं। हमें जो भी रूप-रेखाएँ खिंची दिखाई देती हैं, वे आत्मा की नहीं हो सकतीं।

मान लीजिए, किसी मनुष्य ने काली पोशाक पहन ली है। थोड़ी देर बाद उसने वह पोशाक उतार कर लाल, फिर हरी और फिर सफेद पहन ली। तो यहाँ सिर्फ पोशाक बदली गई है, पहनने वाला नहीं बदला है। वस्त्रों के बदल जाने पर भी उन्हें पहनने

वाला एक ही है। ठीक यही स्थिति आत्मा के सम्वन्ध में समझना चाहिए। किसी आत्मा ने काला जामा तो किसी ने पीला, किसी ने लाल तो किसी ने श्वेत, धारण कर रक्खा है। किसी ने ठिगना तो किसी ने लम्वा और किसी ने बांका-टेढ़ा चोगा पहना है। वे समय-समय उसे उतार कर वदलते भी रहते हैं। यह सब नामकर्म रूपी कारीगर की कारीगरी के नमूने हैं। इसी कारण लोग इस आत्मा रूपी वोलती-चलती फिल्म को देख रहे हैं। जब हम इन चित्रों को देखते हैं तो समझो जीव को नहीं शरीरादि पुद्गल को ही देखते हैं।

इस सम्वन्ध में एक सरल-सा सूत्र स्मरण रख लीजिए तो वह सदैव काम आएगा। वह यह है कि—हमें जो कुछ चर्म-चक्षुओं से दिखाई देता है, वह सव पुद्गल ही है। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि हमें सर्व पुद्गल दिखाई देता ही है, क्योंकि वहुत-से सूक्ष्म पुद्गल ऐसे भी हैं जो नज़र नहीं आते, जैसे परमाणु, द्व्यणुकन इतना ही नहीं अनन्त प्रदेशी स्कन्ध भी सूक्ष्म होने से बहुत सारे हमें दिखाई नहीं देते, पर जो कुछ भी नेत्रों से हम देख पाते हैं, वे बहुत स्थूल पुद्गल होते हैं।

तो मैं कह रहा था कि आकाश निराकार है और उसे कोई स्थूल वस्तु स्पर्श नहीं कर पाती, अपवित्र नहीं कर सकती। क्योंकि साकार साकार को ही प्रभावित कर सकता है, निराकार को नहीं। यह एक निश्चित सिद्धान्त है। इस प्रकार आकाश निराकार है, किन्तु जव रज ऊपर चढ़ जाती है या वादल छा जाते हैं, तो आकाश मंद, धुंधला प्रतीत होने लगता है और हम भी कह देते हैं कि आज आकाश साफ नहीं है।

मगर भूल न जाइए कि आकाश का रज या मेघ के साथ जो सम्बन्ध है, वह संयोग सम्बन्ध है, तादात्म्य नहीं है। अतएव वस्तुतः आकाश स्वच्छ होने पर भी परसंयोग के कारण ही मलीन दीखता है।

इसी प्रकार आत्मा अमूर्त्त है आत्मा और आकाश में अमूर्त्तत्व की दृष्टि से समानता होने पर भी बड़ा अन्तर है। 'अन्तरं महदन्तरम्।' आकाश जड़ है जब कि आत्मा चेतन है। दोनों में यह बड़ा भारी पार्थक्य है। अतएव सर्वांश में आत्मा की आकाश के साथ तुलना नहीं की जा सकती।

सज्जनो! संसार में जितनी भी उपमाएँ हैं, सब आंशिक रूप में ही होती हैं। अगर एक वस्तु के समस्त धर्म किसी दूसरी वस्तु में मिल जाएँ तो उन दोनों में कोई भेद ही न रहे। दोनों एक ही रूप हो जाएँ और फिर तुलना भी सम्भव न हो। तो तुलना किये जाने वाले पदार्थों में सदृशता भी होती है और विसदृशता भी होती है। परन्तु सदृश अंश को प्रधान करके उपमा दी जाती है और उस समय विसदृश अंश को गौण कर दिया जाता है। तभी उपमा सम्भव होती है।

इस प्रकार द्रव्यत्व और अमूर्तत्व की दृष्टि से आत्मा और आकाश सदृश हैं, तथापि आत्मा चेतन है और आकाश अचेतन है। आकाश नहीं जानता कि वह कितने पदार्थों को अवगाहन दे रहा है। उसमें जानने और समझने की बुद्धि ही नहीं है। जानने और पहचानने की शक्ति अगर किसी में है तो वह चेतन में ही है। अगर जड़ में भी यह शक्ति होती तो दोनों में कोई भेद ही न रहता। जीव

और अजीव के बीच जो विभाजन रेखा है वह चेतना का होना और न होना ही है।

आत्मा का लक्षण उपयोग अर्थात् ज्ञान-दर्शन है और आकाश का लक्षण अवकाश देना है। ये दोनों द्रव्यों के असाधारण गुण हैं।

आत्मा कितनी ही पतित अवस्था में क्यों न चली जाय, फिर भी उसमें चेतना विद्यमान रहती है। कल मैंने कहा था कि चेतना मन्द हो सकती है पर बन्द नहीं हो सकती। इसलिए शास्त्रकारों का कथन है कि आत्मा में जिस समय आत्मभाव जागृत होता है, उस समय उसमें महान् शक्ति आ जाती है। वह शक्ति इतनी जबर्दस्त होती है कि इस समय हमारी कल्पना और तर्कणा में भी नहीं आ सकती। इस प्रकार की शक्ति आ जाने पर आत्मा विरोधी तत्त्वों को ललकारती है, सामने जाकर उन्हें चुनौती देती है और आह्वान करती है कि जिस-जिस को सामने आना हो, आ जाओ।

इस प्रकार हुंकार करके आत्मा कर्म-शत्रुओं के साथ जूझती है और एक-एक करके उन्हें पराजित करती जाती है।

यह चेतना और जड़ का मुकाबिला है, क्योंकि आत्मा चेतन और कर्म जड़ हैं। यह न समझिए कि जड़ में कोई शक्ति नहीं होती। नहीं, चेतन की तरह जड़ में भो अनन्त शक्तियों का भण्डार भरा हुआ है। शक्ति न होती तो वह आत्मा की ऐसी दुर्दशा कैसे कर पाता? अनन्त-अनन्त काल से आत्मा भव-अरण्य में भटकता फिरता है और नाना प्रकार की व्याधियों एवं विपत्तियों का भाजन बन रहा है, यह जड़ की शक्ति नहीं तो क्या है?

तो जड़ कर्म के सेनापति भी बड़ें फौलादी हैं जो निश्चित समय पर बटन दबते ही अपनी-अपनी गोलाबारी शुरू कर देते हैं। कहते हैं – जर्मन-रूस के युद्ध में जर्मनी ने फौलाद के सिपाही तैयार किये थे और वे जहाँ-तहाँ मोर्चे पर सेना के रूप में खड़े कर दिये गये थे। वे बटन दबाते ही अपना जौहर दिखलाने लगते थे—दनादन गोलियाँ चलाने लगते थे।

अभिप्राय यह है कि कर्म जड़ होने पर भी उनकी शक्ति बड़ी प्रचण्ड है और वे आत्मा को बन्दर की तरह नचा रहे हैं। मगर आत्मा तभी तक यह नाच नाचती है जब तक उसे अपने स्वरूप का भान नहीं होता। जब वह अपनी सामर्थ्य को पहिचान लेती है, तब उसके पराक्रम के सामने कर्मों की एक नहीं चलती और वह कर्मों को नष्ट-विनष्ट करके ही छोड़ती है।

हनुमान रावण के नागपाश में तभी तक पड़ा रहा जब तक उसने हुंकार नहीं की।

रावण ने हनुमान को नागपाश में जकड़ कर कहा—देख तू, हमारा पक्ष छोड़ कर शत्रुपक्ष में मिल गया। इसी कारण तुझे यह दिन और यह दुःख देखना पड़ा। तू क्या समझता है! राम बड़ा कायर है। उसने तुझे फँसाने के लिए यहाँ भेज दिया और स्वयं नहीं आया।

हनुमान बिना किसी क्षोभ या घबराहट के, मस्ती के साथ, रावण की बातें सुनता रहा और फटकारों को भी सहन करता रहा। मगर जब उसे स्मरण आया कि मैं 'महावीर' कहलाता हूँ तो उसका वीरत्व जाग उठा। उसी समय उसने एक ऐसा झटका दिया कि नागपाश टुकड़ा-टुकड़ा हो गया। कच्चे धागे की तरह टूट गया।

और हनुमान रावण के मुकुट को किधर का किधर फेंक कर राम के पास आ गया।

तो बन्धन कब टूटा? जब महावीर अनुमान को अपने सामर्थ्य का भान हुआ और अपने स्वरूप का ज्ञान हुआ। इसी प्रकार जब आत्मा को अपने स्वरूप का परिज्ञान होता है और आत्मा में आत्मभाव जागृत हो जाता है, तो इस महावीर आत्मा को कर्मपाश तोड़ते देर नहीं लगती। बस, कठिनाई है तो यही कि उसे अपने स्वरूप का भान कैसे आवे और जागृति कैसे उत्पन्न हो?

रोग को दूर करना उतना कठिन नहीं, जितना उसे समझ लेना कठिन है। अतएव आत्मस्वरूप के परिज्ञान के लिए और आत्मा में जागृति लाने के लिए ही साधना की आवश्यकता है। इतना हो जाने पर कर्मों के विनाश में देरी नहीं लगती।

जैसा कि कल बतलाया गया था, कर्मनाश के क्रम में पहला स्थान मोहनीय कर्म का है। मोहनीय का नाश होते ही ज्ञानावरण के साथ ही साथ दर्शनावरण का भी क्षय हो जाता है। जैसे आँखों पर पट्टी बाँध देने से देखने की शक्ति रहने पर भी आँखें देख नहीं सकती, उसी प्रकार दर्शनावरण कर्म के उदय से आत्मा की दर्शन-शक्ति विलुप्त हो जाती है। जब दर्शनावरण का क्षय हो जाता है तो अनन्तदर्शन अर्थात् केवलदर्शन का अविर्भाव हो जाता है।

केवलदर्शन के पर्याय अनन्त हैं। पाँच ज्ञान, तीन अज्ञान और चार दर्शन, यह बारह प्रकार के उपयोग हैं। इनमें से प्रत्येक के अनन्त-अनन्त पर्याय हैं।

प्रश्न किया जा सकता है कि यदि चक्षुर्दर्शन और अचक्षुर्दर्शन के पर्याय भी अनन्त हैं और केवलदर्शन के भी अनन्त हैं तो फिर इन

में अन्तर ही क्या रहा ? सभी को बराबर ही क्यों न मान लिया जाए ? परन्तु सज्जनो ! अनन्त के भी अनन्त भेद हैं। अनन्त-अनन्त में भी बड़ा अन्तर है। एक सौ भी सैंकड़ा है और ९९९ तक भी सैंकड़ा है। इसी प्रकार चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन के अनन्त पर्यायों से केवलदर्शन के अनन्त पर्याय अनन्तगुणा अधिक हैं। सामान्य रूप से अनन्त होने पर भी जब उन के तारतम्य का विचार किया जाता है तो महान् अन्तर सा प्रतीत होने लग जाता है ।

एक सैंकड़ा भी सैंकड़ा है और ९९९ भी सैंकड़ा ही है, फिर भी जैसे इनमें अन्तर है, उसी प्रकार मितिज्ञान, श्रुतज्ञान चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन तथा केवलज्ञान और केवलदर्शन के पर्यायों में भारी अन्तर है।

दर्शनावरण कर्म के नौ रूप हैं—स्वभाव हैं—(१) चक्षुर्दर्शनावरण, (२) अचक्षुर्दर्शनावरण, (३) अवधिदर्शनावरण, (४) केवल दर्शनावरण, और (५—९) पाँच निद्राएँ अर्थात् निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला, और स्थानगृद्धि ।

आँखें होने पर भी उन पर पर्दा आ जाना, जिसके कारण दिखाई न दे, चक्षुर्दर्शनावरण है। यह दो प्रकार का है—चक्षु-आवरण और चक्षुविज्ञानावरण। आँख की ही प्राप्ति न होना चक्षु-आवरण है। चक्षु प्राप्त हो जाएँ किन्तु उनसे जो काम लिया जाता है वह न लिया जा सके, अर्थात् उनमें देखने की शक्ति न हो, चक्षुओं पर पर्दा आ जाए, यह चक्षुविज्ञानावरण है।

चक्षु-आवरण वाले जीव अनन्त हैं। पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, द्वीन्द्रिय और त्रीन्द्रिय

जीव इसी कोटि में हैं। इन जीवों को आँखें मिली ही नहीं हैं। अगर उनके चक्षु-आवरण का उदय न होता तो उन्हें भी चक्षु अवश्य मिलतीं। यह जीव जब तक इन योनियों में रहेंगे तब तक उन्हें चक्षु की प्राप्ति नहीं होगी। चतुरिन्द्रिय दशा प्राप्त होने पर कहीं आँखें मिलती हैं।

आँखें होने पर भी कई जीव ऐसे हैं जिनकी आँखों में रोशनी नहीं होती। मैं जोधपुर गया तो देखा कि गाय के एक बच्चा उत्पन्न हुआ। जन्म से ही उसकी आँखों में प्रकाश नहीं था। वह इधर-उधर टकरा कर आखिर मरण-शरण हो गया। ऐसे जीवों को चक्षु-विज्ञानावरण कर्म का उदय समझना चाहिए।

प्रश्न हो सकता है कि ऐसे जीव तो हैं जिन्हें कान, नेत्र, नाक और जिह्वा नहीं मिली हैं, किन्तु ऐसे जीव कौन-से हैं जिन्हें स्पर्शेन्द्रिय भी प्राप्त न हो ?

इस प्रश्न के उत्तर में शास्त्रकार कहते हैं कि ऐसे जीव भी अनन्त हैं। जिन जीवों ने अपने पूर्वभव के शरीर का त्याग कर दिया है मगर अभी तक नवीन शरीर ग्रहण नहीं किया है; जो रास्ते में हैं और विग्रहगति कर रहे हैं, ऐसे जीव स्पर्शेन्द्रिय विहीन हैं। इंद्रियों का सम्बन्ध स्थूल शरीर के साथ था। उसका त्याग करते ही इंद्रियों का सम्बन्ध भी छूट गया। अब उन्हें एक भी द्रव्येन्द्रिय प्राप्त नहीं है। अगली योनि में जहाँ जाना है, वहाँ पहुँचेगा और इन्द्रिय पर्याप्ति के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करके उन्हें इन्द्रिय रूप में परिणत करेगा तब उसे उस योनि के योग्य इन्द्रियों की प्राप्ति होगी। वहाँ उसे नया घर बसाना पड़ेगा और नयी दुनिया बसानी पड़ेगी। अनन्त-अनन्त काल से यह जीव नया घर-संसार बसाता चला आ रहा है। अभी तक इसकी स्थायी इमारत नहीं बन पाई है।

कभी-कभी यह जीव नया घर बसाने की कोशिश करते-करते ही अचानक चल बसता है। घर में जितनी चीजें बसानी थी, वे भी पूरी नहीं बसा पाता और अपर्याप्त अवस्था में ही मर जाता है।

इस प्रकार जो नया जन्म ग्रहण करने के लिए जा रहे हैं और नियत स्थान पर नहीं पहुँच पाए हैं अथवा पहुँच कर भी इन्द्रिय पर्याप्ति पूरी नहीं कर सके हैं, वे सब जीव स्पर्शनेन्द्रिय से भी रहित हैं।

तो चक्षु पर आवरण आ जाना या जिस कर्म के उदय से चक्षु पर आवरण आ जाय वह चक्षुदर्शनावरण कर्म है, तथा चक्षु के अतिरिक्त शेष चार इन्द्रियों की शक्ति को आच्छादित करने वाला कर्म चक्षुर्दर्शनावरण कहलाता है। जिस शक्ति से हम एक जगह बैठे-बैठे योजनों दूर के रूपी पदार्थों का दर्शन—सामान्य ज्ञान—कर सकें, वह अवधिदर्शन है। उसे ढक देने वाला कर्म अवधिदर्शनावरण कहलाता है। समस्त लोकालोक के देखने की शक्ति को आवृत कर देने वाला कर्म केवलदर्शनावरण है। पांच प्रकार की निन्द्रा भी इसी दर्शनावरण कर्म के उदय से आती है। वह निद्रा इस प्रकार है—

(१) निद्रा—साधारण नींद जो सरलता से भंग हो जाय।

(२) निद्रानिद्रा—जो कठिनाई से भंग हो ऐसी गाढ़ी नींद।

(३) प्रचला—बैठे-बैठे निद्रा आना।

(४) प्रचलाप्रचला—चलते-फिरते आने वाली निद्रा।

(५) स्त्यानगृद्धि—जिस निद्रा में बड़े-बड़े दुस्साध्य कार्य किये

जा सकें, जिन्हें जागृत अवस्था में करना सम्भव नहीं होता।

सज्जनो! जब यह आत्मा उक्त तीन दोषों को समूल नष्ट कर देती है तो इस नौ प्रकार के दर्शनावरणकर्म का भी नाश हो जाता है।

दर्शनावरण कर्म के साथ ही साथ सब प्रकार की प्राप्ति में विघ्न डालने वाला अन्तराय कर्म भी नष्ट हो जाता है। अन्तराय कर्म के पांच रूप हैं, जिन्हें पाँच प्रकृतियाँ कहते हैं। यथा—(१) दानान्तराय, (२) लाभान्तराय, (३) भोगान्तराय, (४) उपभोगान्तराय और (५) बलवीर्यान्तराय।

(१) दानान्तराय—दान की सामग्री होने पर भी जिस कर्म के उदय से दान न दिया जा सके। आप देखते ही हैं कि कई लोग धन होने पर भी और सब पदार्थ एवं सुविधा होने पर भी दान नहीं दे सकते। वे उस धन की सिर्फ रखवाली ही करते हैं। इसका कारण यही है कि उन्होंने दानान्तराय कर्म बाँध रक्खा है।

दानान्तराय कर्म किस प्रकार बँधता है? दान देने वाला दे रहा है और लेने वाला ले रहा है, किन्तु तीसरा देखने वाला कहता है—देखो, बिलकुल बावाजी बनने पर तुला हुआ है! कैसी बेरहमी के साथ पैसा उड़ा रहा है! फिर प्रकट में कहता है—अरे, क्या तुम्हें बावाजी बनना है? इस प्रकार दान देने वाले को रोकना, अनुत्साहित करना, उसका अपवाद करना और जरूरत वाले की जरूरत पूरी होने में विघ्न डालना दानान्तराय कर्म के बन्ध का कारण है।

(२) लाभान्तराय—कई लोग दिन भर मेहनत करते हैं, मजदूरी करते हैं, खून का पसीना वनाते हैं, फिर भी आजीविका प्राप्त नहीं कर पाते। समझना चाहिए कि उन्होंने लाभान्तराय कर्म का वन्ध किया है।

लाभान्तराय कर्म का वन्ध किसी के लाभ में विघ्न डालने से होता है। कल्पना कीजिए—किसी की दुकान पर कोई ग्राहक जा रहा हो तो उसे वरगला देना कि—'अरे,कहाँ फँस रहे हो ? वह पूरा माल पल्ले नहीं डालता है। मेरे यहाँ पूरा तोला जाता है।' इस प्रकार कह कर उस दुकानदार के लाभ में विघ्न डालने से लाभान्तराय कर्म वँधता है। इसी का फल है कि मनुष्य को कठिन परिश्रम करने पर भी लाभ नहीं हो पाता। अतएव दूसरे के लाभ में विघ्न डालना अपने ही लाभ में विघ्न डालने की तैयारी करना है।

(३) भोगान्तराय—पदार्थ दो प्रकार के हैं—भोग्य और उपभोग्य। भोग्य पदार्थ वे हैं जो सिर्फ एक ही वार काम में आते हैं और उपभोग्य पदार्थ वार-वार भोग में लाये जाते हैं। पानी पिया दूध पिया, नाना प्रकार के मिष्टान्न खाये, रोटी खाई किन्तु पेट में पहुँचने के पश्चात् उनके स्वरूप में परिवर्तन हो गया। वे दोवारा काम में नहीं आ सकते। एक वार खा लिया सो खा लिया, पी लिया सो पी लिया। जो खाया सो मल वन गया और पी लिया सो मूत्र वन गया। अव दूसरी वार उसे नहीं खा-पी सकते। इस प्रकार एक ही वार काम में आने वाले पदार्थ भोग पदार्थ कहलाते हैं। इन की प्राप्ति में विघ्न डालने वाला कर्म भोगान्तराय कर्म कहलाता है।

(४) उपभोगान्तराय—जो पदार्थ पुनः-पुनः काम में आते हैं, उन्हें उपभोग्य पदार्थ कहते हैं। वस्त्र, आभूषण, रुपया, चूल्हा, चक्की, कलम, कुर्सी आदि इस श्रेणी के पदार्थ हैं। ये दाल-रोटी के समान नहीं हैं कि दूसरी बार उपयोग ही न किया जा सके। इन्हें काम में लिया जाता है और फिर रख दिया जाता है। फिर उनका प्रयोग किया जाता है। अतएव इन्हें उपभोग कहते हैं। जिस कर्म के उदय से ऐसे पदार्थों की प्राप्ति में विघ्न पड़ता है, वह उपभोगान्त-राय कर्म कहलाता है।

सज्जनो ! दुनिया में काम में आने वाले पदार्थ दो ही प्रकार के हैं—भोग और उपभोग। महापुरुषों ने समुद्र को कुलड़ी में बन्द कर दिया है। इत्र की शीशी छोटी-सी होती है किन्तु उसमें बहुत-से फूलों का सत्व समाया हुआ होता है। इसी प्रकार महापुरुषों के वचन सूत्र रूप यानी छोटे होते हैं, मगर उनमें अगाध भावगाम्भीर्य होता है। महापुरुषों ने बहुत सारे बगीचों के फूलों का सार छोटी शीशी में भर दिया है। किन्तु वह सार उत्तम रुचि वालों को ही पसन्द आता है; निम्न कोटि की रुचि वालों को पसन्द नहीं आता।

(५) बलवीर्यान्तराय—कोई अपनी शक्ति के अनुसार तप करना चाहता है, देश की सेवा करना चाहता है और सेवा के पुनीत क्षेत्र में पदार्पण करना चाहता है, किन्तु स्वार्थी स्वार्थ के वशीभूत होकर उसमें विघ्न डालता है; अर्थात् उसे अपनी शक्ति का उपयोग नहीं करने देता। इस प्रकार जो दूसरों की शक्ति में बाधक बनता है शक्ति प्राप्त नहीं करने देता या शक्ति का प्रयोग नहीं करने देता वह बलवीर्यान्तराय कर्म बन्ध करता है। जब इस कर्म का उदय

आता है तो वह वल-वीर्य प्राप्त करने की इच्छा रखने पर भी और उसके लिए प्रयत्न करके भी प्राप्त नहीं कर सकता।

सज्जनो ! शास्त्रकारों ने तो कहने में कोई कसर रक्खी नहीं, हम ही ढीठ हैं कि जो वने वनाये अमृत का भी पान नहीं कर सकते।

जो तपस्या करना चाहता है, संयम का पालन करना चाहता है, मिली हुई शक्तियों का सेवा या आत्मसाधना में उपयोग करना चाहता है, वह यदि पराया हुआ तो उसे कहते हैं—साधुजीवन महान् है, उत्तम है, लघुकर्मा जीव साधु वन सकता है, महान् पुण्योदय से संयम जीवन प्राप्त होता है और इससे सात पीढ़ियाँ तिरजातियाँ हैं और उज्ज्वल हो जाती हैं। किन्तु जव कोई आत्मीय जन दीक्षा लेने का संकल्प करता है तो उलटी गंगा वहने लगती है। उस समय सारी पीढ़ियाँ सामने आ जाती हैं और उसे रोकने के लिए हजार झूठी-सच्ची वातें वनाई जाती हैं।

एक वार एक व्यक्ति ने मेरे गुरु महाराज से कहा—आपकी कृपा से दो दुकानें चलती हैं और मेरा लड़का थानेदार हो गया है।

महाराज मौन रहे। थोड़ी देर वाद उन्होंने सहज भाव से कहा—सेठजी, अगर तुम्हारे घर से कोई साधु वने तो उसे अन्तराय न डालना, यह नियम ले सकते हो ?

वूढ़े ने सोचा—मेरे घर में से कौन साधु वन सकता है ! कोई ऐसा नहीं दीखता। यह सोच कर उसने नियम ले लिया। गुरुजी से कहा—मेरा बेटा दीक्षा ले तो मैं अपने हाथ से दीक्षा दूँ !

सेठ के पोते की भौजाई के साथ अनबन हो गई थी। गुरु महाराज से मिला भी नहीं था। शायद सेठ को भी इस घटना का पूरा पता नहीं था। उसने वाहवाही लेने के लिए ही उक्त प्रतिज्ञा ले ली थी।

एक बावाजी धूनी लगा कर और आँखें बन्द करके बैठ गए। कोई माई आकर चढ़ावा चढ़ाए या रुपया-पैसा रक्खे तो आप आँखें खोलकर देखते भी नहीं थे।

संयोग से एक लोभी सेठ भी बाबाजी के पास जा पहुँचा। उसने उन्हें ध्यान में मग्न देख कर सोचा—ये बावाजी, चढ़ावा तो लेते ही नहीं हैं! दूसरे दिन वह एक हजार की थैली लेकर पहुँचा और बाबाजी के सामने रख कर बोला—बावाजी, मैंने अठारह पापों का सेवन करके ये रुपये इकट्ठे किये हैं। कृपा करके मुझे इन पापों से उबारिये।

बहुत-से लोग वहाँ बैठे थे और वे सब उसे कंजूस समझते थे, किन्तु आज यह मामला देख कर सोचने लगे—आज सारा यश तू ही लूट ले!

बाबाजी ने भी मन में सोचा—इस कंजूस के कलंक को आज धो ही देना चाहिए।

बावाजी ने थैली का पता लगा कर चेले को इशारा किया—देख ले अवसर।

चेला उठा और चुपचाप थैली उठा कर अन्दर ले गया। कंजूस सेठ के दिल में जैसे उबाल आने लगा। परन्तु सब के सामने वह कुछ बोल न सका। वहीं बैठ कर माला फेरने लगा। जब सब लोग चले गए तो बोला—वह... कहाँ रक्खी है?

आंखें बन्द किए हुए ही बावाजी ने कहा—बच्चा, ले लिया। तेरी भावना पूरी हो गई।

सेठ—बावाजी, मैंने सुना था कि आप लेते नहीं हैं!

बावाजी—तू सच कहता है और कहने वाले भी झूठ नहीं कहते। हमने भी सोचा—थोड़ा क्या लेना, हजार मिले तो जरूर लेना। भगवत्कृपा से हमारी मुराद पूरी हो गई।

सेठ—अरे महाराज! यह क्या कहते हो? मैं मुफ्त में ही मारा जाऊँगा और पुलिस आपको पकड़ लेगी। लोभी सेठ मुफ्त में ही शोभा लूटनी चाहते थे तो उन सेठ जी ने भी सोचा—मेरे घर में दीक्षा लेने वाला तो कोई है नहीं, फिर नियम लेने में हानि ही क्या है? दीक्षा लेने में अन्तराय न डालूँगा, इस नियम को ले लेने से मेरी कोई हानि नहीं है।

किन्तु जब दूसरे ही दिन उस लड़के ने दीक्षा ग्रहण करने का भाव प्रकट किया तो सेठ जी का कलेजा बैठ गया। उसने कहा—महाराज ने लड़के से पहले ही बात कर ली होगी; अन्यथा मुझे नियमबद्ध क्यों करते?

बस, फिर क्या था? उसने महाराज के पास आ कर कहा—तुमने मेरी गांठ काट ली! धोखा देकर मेरा घर ही लूट लेने की कोशिश की। ऐ बिरदीचन्द साधु, मैं तो यों कर दूँगा, त्यों कर दूँगा।

लाला का रंगढंग ही बदल गया। कौन गुरु और कौन किस का चेला! वह सारे गांव में गुरुजी, का गीत गाता फिरा।

वहीं एक लाला दुन्नीमल चोधरी थे। उन्होंने गुरु महाराज के पास आकर कहा—महाराज, मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप अन्यत्र पधार जाइए। अभी यहाँ रहने का अवसर नहीं है। वह लाला आपके लिए ऐसे-ऐसे शब्द कहता है जिन्हें हम सुन नहीं सकते। वह मोह से अन्धा हो रहा है। हम कुछ कहते हैं तो कहता है—अपने घर में से ही किसी को क्यों नहीं मुड़वा देते।

गुरु महाराज ने शान्ति के खातिर वहाँ से विहार कर दिया।

तो यह मोह बड़ा प्रबल है। इसका प्रभाव बड़ा विचित्र और जबर्दस्त है। जिसने मोह को जीत लिया। उसने समग्र विश्व को जीत लिया मगर जो मोह में अन्धा है, वह अपने आपसे भी पराजित हो जाता है। उसकी विचारशक्ति कुंठित हो जाती है और वचन बोलने का विवेक भी विलुप्त हो जाता है। वास्तव में बोलना भी एक बहुमूल्य कला है और वह सब को नहीं आती है।

एक राजा को स्वप्न आया कि एक दांत को छोड़ कर मेरे सभी दांत झड़ गए हैं। जब उसकी नींद खुली तो नित्य कृत्यों से निवृत्त हो कर उसने भोजन किया। तत्पश्चात् दरबार लगवाया और अपने सिंहासन पर आकर बैठ गया।

दरबार में पण्डित भी मौजूद था। राजा ने सब के सामने अपना स्वप्न प्रकट करके अपने पण्डित से फल पूछा। पण्डित ने ऊहापोह करके स्वप्न का फल सोचा और कहा—महाराज! आपके कुटुम्बी जन और परिचय में आए हुए लोग सब मर जाएँगे और अकेले आप बचेंगे।

फलादेश सुन कर राजा को वड़ा क्रोध आया। उसने पण्डित से कहा—पण्डित, तुमने तो सारा मामला ही चौपट कर दिया। परिवार के लोग जब मरेंगे तब मरेंगे, तुमने अभी मार डाला। तुम राजसभा में रहने योग्य नहीं हो। अभी वाहर निकल जाओ।

राजा ने उसी समय पण्डित को राजसभा से निकलवा दिया। वह वाहर चला गया।

तत्पश्चात् राजा ने अपने मन्त्री से उसी स्वप्न का फल पूछने का विचार किया। कहा—मंत्रिन्, तुम वताओ, मेरे स्वप्न का फल क्या होगा?

मन्त्री वहुत कुशल नीतिज्ञ था। उसने कहा—राजन्, आपके जितने भी मित्र, कुटुम्ब-परिवार आदि इष्ट जन हैं, उन सव से आप अधिक दीर्घजीवी होंगे। आप लम्वे समय तक जीवित रह कर यशस्वी होंगे।

मन्त्री के द्वारा कथित फलादेश सुन कर राजा की मानों गई हुई लक्ष्मी वापिस आ गई।

सज्जनो! वात क्या वनी? दोनों के कहे फलादेश पर विचार कीजिए तो क्या अन्तर है? वात तो वही की वही हुई। पण्डित ने कहा था कि आप से पहले सव मर जाएँगे और मन्त्री ने कहा कि आप सव से अधिक दीर्घजीवी होंगे। शब्दों में अन्तर अवश्य है, परन्तु आशय तो दोनों का एक ही है। फिर भी पण्डित के कथन से राजा को विषाद हुआ और मन्त्री के कथन से हर्ष हुआ। इसका कारण क्या है? वस, वही वोलने की कला। पण्डित को वह कला नहीं आती थी और चतुर मन्त्री वोलने की कला में कुशल था।

पण्डित दरबार के बाहर बैठा मन्त्री का कथन सुन रहा था। वही का वही उत्तर सुन कर उसे सान्त्वना मिली और उसे पुनः दरबार में जाने का साहस हुआ। भीतर आकर उसने राजा से कहा—अन्नदाता मैंने क्या झूठ कहा था और मन्त्रीजी ने क्या अनूठा सत्य कह दिया कि आप मुझ पर तो अप्रसन्न और इन पर प्रसन्न हो गये? दोनों के उत्तर का अर्थ तो एक ही है।

राजा ने कहा—देखो पण्डित! नीतिकार कहते हैं—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्, न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।

अर्थात् सत्य बोलो और प्रिय बोलो, किन्तु ऐसा सत्य मत बोलो जो अप्रिय हो।

राजा ने कहा—तुम्हारा कथन सत्य भले हो, मगर अप्रिय है और जो अप्रिय है, दूसरों को कष्टकारी है, जिसको सुनने से किसी के हृदय को ठेस लगती है, व्यथा उत्पन्न होती है, वह शास्त्रीय दृष्टि से सत्य की कोटि में नहीं आ सकता।

शास्त्रों में सत्य का बड़ा विशद वर्णन किया गया है। जो उसके स्वरूप को समीचीन रूप से समझ लेते हैं; वही पूरी तरह सत्य का आचरण कर सकते हैं। वास्तव में सत्य, अहिंसा का परिपालन करने के लिए है। अतएव जो सत्य अहिंसा का विरोधी होता है, हिंसा का पोषक होता है, वह सत्य नहीं, असत्य है। अतएव सत्यवादी की नजरों मे सदैव अहिंसा का आदर्श रहना चाहिए। इसी कारण अप्रिय सत्य बोलने का निषेध किया गया है।

वजीर ने सत्य भी कहा और प्रिय भी कहा तो वह प्रशंसा का पात्र हुआ। उसने जीने की बात कहीं, मरने की नहीं कही। किन्तु पण्डित ने अप्रिय सत्य कहा तो उसे तिरस्कार का पात्र बनना पड़ा।

सज्जनो ! किसी महिला को 'माता' कह कर संबोधन कीजिए तो उसे कितना अच्छा लगता है। और उसी को 'मेरे बाप की लुगाई' कह दीजिए तो वह सैकड़ों गालियाँ सुनाये बिना न रहेगी। तो बोलने-बोलने में कितना अन्तर होता है ?

तो सर्वत्र विवेक की आवश्यकता है। विवेक के बिना मनुष्य पद-पद पर विषाद और विपदा का पात्र बनता है। ठीक ही कहा गया है—

विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः।

अर्थात्—जो मनुष्य विवेकभ्रष्ट हो जाता है, उसका शतमुख अधःपतन होता है। वह नीचे ही नीचे गिरता चला जाता है।

किन्तु मोह और विवेक परस्पर विरोधी हैं। मोह विवेक को नष्ट कर देता है। अतएव विवेक का विकास करने के लिए मोह को जीतना आवश्यक है। मोह को जीत लेने पर ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म को जीतने में विलम्ब नहीं लगता।

तो पाँचवाँ अन्तराय कर्म का भेद बलवीर्यान्तराय है। किसी को धर्मकार्य आदि में लगते देख विघ्न डालने से भी अन्तराय कर्म बँधता है। मगर मोह को जीत लेने पर इसे भी सहज ही जीता जा सकता है।

इस प्रकार जो राग, द्वेष और मिथ्यात्व को जीत लेते हैं वे संसार-समुद्र से पार हो जाते हैं।

ब्यावर
२४—१०—५६

चलो—भले हौले-हौले

उपस्थित महानुभावो !

कल वतलाया गया था कि जो आत्माएँ विवेकशील, ज्ञानवान् और गुणवान् होती हैं, वे आत्मगत त्रिदोषों को निकाल फेंकती हैं, उन्हें समूल नष्ट कर देती हैं। तदनन्तर वह ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र की आराधना करने योग्य हो जाती हैं। ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना से क्रमश: कर्मों का विनाश होता चला जाता है।

शास्त्र में कर्म-विनाश का जो क्रम दिखलाया गया है, उसके अनुसार सर्वप्रथम मोहनीय कर्म की २८ प्रकृतियों का क्षय होता है। तत्पश्चात् ज्ञानावरण की पाँच प्रकृतियों का, दर्शनावरण की नौ प्रकृतियों का और पाँच प्रकार के अन्तराय कर्म का एक साथ ही क्षय होता है। आठ कर्मों में यह चार घातिया कर्म कहलाते हैं। शेष चार अर्थात् नाम कर्म, गोत्र कर्म, वेदनीय और आयु कर्म अघातिया कर्म हैं।

घातिया कर्म ही आत्मा के घोर शत्रु हैं। जब इन पर विजय प्राप्त कर ली जाती है तो अघातिया कर्मों का जोर नहीं चलता। वे अनायास ही नष्ट हो जाते हैं। यह कर्म जीव को सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त शक्तिमान् और वीतराग होने में वाधा नहीं पहुँचाते। किन्तु घातिक कर्म इतने प्रवल और सघन होते हैं कि उनकी विद्यमानता में न तो केवलज्ञान-दर्शन की प्राप्ति हो सकती है, न अनन्त वलवीर्य प्राप्त हो सकता है और न वीतरागता ही आ सकती है। जव इनका

क्षय होता है तभी आत्मा में केवलज्ञान-केवलदर्शन प्रकट होते हैं और सर्वज्ञता तथा सर्वदर्शिता प्राप्त हो जाती है। उस समय आत्मा आत्मभाव में रमण करने लगती है। उसमें अनन्त आनन्दमय स्रोत प्रवाहित होने लगता है। जीवन्मुक्तदशा उपलब्ध हो जाती है, जिसे अमर मोक्ष भी कहते हैं।

आत्मा की जिस-जिस शक्ति का विरोध करने वाले कर्म का क्षय होता चला जाता है, वही-वही शक्ति उस कर्म का क्षय होने पर प्राप्त होती जाती है।

शास्त्र में प्रश्न किया गया है कि चार घातिया कर्मों को नष्ट कर देने का क्या फल होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि अनुत्तर वस्तु की प्राप्ति होती है। अर्थात् जब चार घातिया कर्मों का क्षय होता है तो जीव को ऐसी अलौकिक और असाधारण निधि प्राप्त होती है जिससे बढ़ कर समग्र विश्व में दूसरी कोई निधि हो नहीं सकती।

आत्मा को अनुत्तर ज्ञान की प्राप्ति होती है, अर्थात् उस ज्ञान से बढ़ कर दूसरा कोई ज्ञान है ही नहीं। दुनिया के समस्त ज्ञान-विज्ञान उस अनुत्तर ज्ञान में गर्भित हो जाते हैं। वह परिपूर्ण ज्ञान है और संसार में कोई वस्तु ऐसी नहीं जो उसमें न झलकती हो। तीन काल और तीन लोक के समस्त भाव उस अनुत्तर ज्ञान में उसी प्रकार प्रतिबिम्बित होते हैं जैसे काँच सामने होने पर देखने वाले का चेहरा उसमें प्रतिबिम्बित होता है। चेतना शक्ति का एक अंश प्रकट होने से शेष नहीं रहता। जैसे पूर्णमासी का चन्द्रमा अपनी समस्त कलाओं के साथ उदित होता है उसी प्रकार वह ज्ञान-चन्द्र भी पूर्ण कलाओं से प्रकाशित होता है।

तो ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म का क्षय हो जाने पर आत्मा को जव सम्पूर्ण ज्ञान और दर्शन की प्राप्ति होती है तो वह आत्मा देवाधिदेव वन जाता है। उसे जिनेन्द्र भी कहते हैं, वीतराग भी कहते हैं, परमपुरुष भी कह सकते हैं और अर्हन्त भी कहते हैं।

वतलाया जा चुका है कि मोहनीय कर्म का क्षय होने पर ही सर्वज्ञता प्राप्त होती है, अतएव सर्वज्ञ में न किसी के प्रति राग होता है, न द्वेष होता है और न काम क्रोध आदि विकार ही होते हैं।

जैनसिद्धान्त ऐसे अवतारों को ईश्वर नहीं मानता जिनकी लुगाई खो जाय तो वह उसके वियोग में छटपटाता हुआ जंगलों में भटकता फिरे और वृक्षों एवं लताओं से उसका पता पूछता फिरे। जो विलाप करता फिरे और मूढ़ हो जाय। एक तरफ तो हम उन्हें भगवान्, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और सोलह कलाओं से परिपूर्ण पूर्णपुरुष मानें और दूसरी तरफ अपनी पत्नी का पता पूछने के लिए दूसरों की आजज़ी करना भी मानते रहें, ये दोनों बातें एक साथ किस प्रकार वन सकती हैं? क्या उस समय उनको सर्वज्ञता को भी कोई उनकी पत्नी के साथ अपहरण कर लेता है? या उनका सर्वज्ञत्व बैंक में जमा हो जाता है?

उसी वस्तु का अपहरण किया जा सकता है जो यथार्थ में आपकी नहीं है, पर आपने अपने ममत्व के कारण आपने अपनी मान ली है। जो वस्तु वास्तव में आपकी है, वह त्रिकाल में भी अपहृत नहीं की जा सकती। सर्वज्ञता आत्मा का निज गुण है और उसे अपहरण करने की शक्ति किसी में नहीं है।

तो शास्त्रकार कहते हैं कि देव-परमात्मा वनना इतना सहज नहीं है। वे किसी के बनाये नहीं वनते। याद रखिए, जैसी तुम्हारी नमाज़ होगी, वैसा ही नूर आएगा। जैसी तुम्हारी धारना और भावना होगी, वैसे ही भगवान् तुम्हें मिल जाएँगे।

भगवान् वनाने से नहीं बनते और न मोल से मिलते हैं। जो भी भगवान् वने हैं, सव अपने ही वलवूते पर और अपनी ही साधना के वल पर वने हैं। किसी दूसरे के वनाने से नहीं बने हैं। मगर मनुष्य का स्वभाव ही कुछ ऐसा है कि वह चाहता है—खर्च तो कम हो और लाभ ज्यादा हो। किन्तु दुनिया में यह कहावत भी प्रसिद्ध है—'महँगा रोवे एक वार, सस्ता रोवे वार-बार' भगवान् को खरीदा और टूट गया—फूट गया, तो रोना पड़ा। ऐसा भगवान् भगवान् नहीं है। वह न टूटता-फूटता है और न उस पर किसी का असर होता है।

तो शास्त्रकार कहते हैं—मोहनीय के पश्चात् ज्ञानावरण कर्म का क्षय होने पर केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। 'केवलज्ञान' शब्द में 'केवल' विशेषण है और 'ज्ञान' विशेष्य है। 'केवल' शब्द के. अनेक अर्थ हैं। जो असहाय हो अर्थात् जिसे इन्द्रिय मन आदि की सहायता की आवश्यकता न हो वह 'केवल' कहलाता है। दूसरा अर्थ 'अकेला' है। जब ज्ञानावरण के क्षय से यह ज्ञान उत्पन्न होता है तो क्षयोपशमजन्य मति, श्रुत, अवधि और मनः पर्याय ज्ञान नहीं रहता। अकेला यही ज्ञान रहता है अतएव अकेला रहने से भी इसे 'केवलज्ञान' कहते है। 'केवल' का अर्थ प्रतिपूर्ण भी है। यह ज्ञान की चरम सीमा रूप होने से प्रतिपूर्ण है, इसमें तनिक भी अधूरापन नहीं होता। 'केवल' शब्द का चौथा अर्थ 'अनन्त' भी होता है। अनन्त

द्रव्यपर्यायों को जानने वाला होने के कारण यह ज्ञान भी अनन्त है और इस कारण भी केवलज्ञान कहलाता है। 'केवल' का एक अर्थ 'अन्त' भी होता है। जितने भी ज्ञान जीव को प्राप्त होने योग्य हैं, उन सब के अन्त में इस ज्ञान की प्राप्ति होती है, अतएव इसे केवलज्ञान कहते हैं।

आत्मा शरद् ऋतु के निरभ्र आकाश में पूर्णिमा का उदित होने वाले चन्द्रमा के समान है। चन्द्रमा के ऊपर आवरण आने से प्रकाश में तरतमता होती है; और इसी प्रकार ज्ञान के ऊपर आवरण आने से ज्ञान में तरतमता होती है। उस तरतमता को सूचित करने के लिए ही मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि अनेक भेद-प्रभेद किये गये हैं। किन्तु जब आवरण का सर्वथा अभाव हो जाता है तो समस्त अपूर्ण अवस्थाएँ मिट जाती हैं और एक परिपूर्ण रूप ही प्रकट होता है। वही केवलज्ञान कहलाता है। यही कारण है कि केवलज्ञान के साथ अपूर्ण ज्ञान, जो क्षयोपशम जनित होते हैं, नहीं रह सकते।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आवरण होने पर भी होते हैं। यही बात अवधि और मनः पर्याय ज्ञान के विषय में भी समझनी चाहिए। इस कारण ये चारों ज्ञान अपूर्ण हैं, मगर केवलज्ञान तभी उत्पन्न होता है जब आवरण का पूर्ण रूप में क्षय हो जाता है। अतएव इस ज्ञान में पूर्णता होती है।

यद्यपि केवलज्ञान अकेला ही रहता है, मगर उसके रहते क्या मजाल कि अज्ञान की एक छोटी-सी भी रेखा रह सके। हजारों तारे मिल कर भी जो प्रकाश नहीं कर सकते, वह सूर्य अकेला करता है। इसी प्रकार मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्याय—चारों ज्ञान एक

ही आत्मा में रह कर भी जो प्रकाश नहीं कर पाते, वह अकेला केवलज्ञान कर देता है। केवलज्ञान आत्मजगत् का सूर्य है। उस पर किसी प्रकार का पर्दा नहीं, अतएव वह निरावरण है।

तो जो अवतार मोहग्रस्त हैं, मोह से प्रेरित होकर युद्ध करते फिरते हैं, समझ लीजिए कि उन्हें केवलज्ञान नहीं है। जैनशास्त्र उन्हें आराध्य देव अर्थात् परत्मात्मदृष्टि से नहीं देखता। यों तो देव पाँच प्रकार के माने गये हैं—भवि द्रव्यदेव, भावदेव, नरदेव, धर्मदेव और देवाधिदेव।

'देव' शब्द 'दिव्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है क्रीड़ा करना, विजय प्राप्त करना और इच्छा करना, प्रकाश करना, गति करना आदि। इन विभिन्न अर्थों के आधार पर अनेक प्रकार से देव शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। इसी कारण पाँच प्रकार के देव बतलाये गये हैं और इनके अतिरिक्त अन्य को भी अपेक्षाविशेष से देव कहा जा सकता है। तो पाँच प्रकार के देवों का जो कथन किया गया है, उनका अर्थ इस प्रकार है—

(१) भविद्रव्यदेव—जिस मनुष्य या तिर्यंच ने देवगति का बंध कर लिया है, परन्तु अभी देवगति प्राप्त नहीं की है, वह भविद्रव्यदेव है।

(२) भावदेव—जो देवजन्म को प्राप्त कर देवायु को भोग रहा है।

(३) नरदेव—अर्थात् चक्रवर्त्ती आदि राजा।

यह तीनों लौकिक दृष्टि से देव हैं; कामी और भोगी है। आगे के दो आध्यात्मिक देव हैं—

(४) धर्मदेव—साधु, मुनि, ऋषि ।

दूधदेव, पूतदेव, जनदेव, धनदेव, कणदेव आदि धर्मदेव नहीं हैं। धर्मदेव के पास कोई भी आवे, चाहे वह धनी हो या निर्धन, वे सव को समान भाव से धर्मोपदेश देते हैं। चक्रवर्त्ती हो या रंक हो, उनको एक-सा उपदेश देना धर्मदेव का कर्तव्य है। शास्त्र में कहा है—

जहा पुण्णस्स कत्थइ, तहा तुच्छस्स कत्थइ ।

ऐ धर्मकथावाचक ! तेरे हृदय में इतनी विशालता होनी चाहिए कि जैसे तू चक्रवर्त्ती राजा को उपदेश करता है उसी प्रकार गरीव-निर्धन-रंक को भी उपदेश कर ।

किन्तु सज्जनो ! यह घाटी वड़ी विपम है। वड़े-वड़े भी यहाँ आकर चकरा जाते हैं। कोई वड़े सेठ जी आ गए तो कहा जाता है कव आए सेठ जी ? और उनको आगवानी में थोड़ी देर के लिए व्याख्यान ही वन्द हो जाता है। मगर साधु को समदृष्टि होना चाहिए। गरीव और अमीर दोनों समान रूप से प्रिय होने चाहिएँ। गरीव क्या नहीं देगा और अमीर क्या दे देगा ? यहाँ तो धर्म की दुकान है। सवको माल खरीदने की समान् स्वतन्त्रता है। चाहे अमीर माल खरीदे चाहे गरीव, हमें तो दलाली मिल ही जायगी। एक गरीव को दीक्षित करने से वही दलाली मिलती है जो एक चक्रवर्त्ती को दीक्षित करने से मिलती है।

किन्तु साधु होकर भी जो धनवान् को अधिक महत्त्व देता और गरीव को कम, जो धनी से घुल-घुल कर वातें करता है और निर्धन की उपेक्षा करता है समझना चाहिए कि अभी तक उसके

चित्र में धन का महत्त्व वना है और उसके जीवन में समभाव नहीं जाग सका है।

तो धर्म के विशाल प्रांगण में इतनी उदारता है कि वहाँ गरीव-अमीर का कोई भेद नहीं। धर्म की कसौटी और तराजू दूसरी ही है। वहाँ धन और ऐश्वर्य से मनुष्यता नहीं तौली नापी जाती। दुनियावी सफलता से वहाँ महत्ता नहीं मिलती। धर्म की कसौटी आत्मिक गुणों का विकास है। जिसने आत्मिक गुणों का अधिक विकास किया है, वही महान् है, फिर भले ही वह रंक ही क्यों न हो। इसके विपरीत जिसने आत्मिक गुण प्राप्त नहीं किये, वह तुच्छ है, चाहे वह वड़ा सेठ या चक्रवर्त्ती ही क्यों न हो। इस प्रकार धर्म के क्षेत्र में सारे मापदण्ड ही वदल जाते हैं।

साधु का जीवन अलग-थलग है। उसे गृहस्थों के मामले में नहीं पड़ना चाहिए। गार्हस्थिक विपयों से सर्वथा अलिप्त रहना चाहिए। गृहस्थों के साथ उसका जो सम्वन्ध है, वह धर्म का ही सम्वन्ध है। अतएव जो भी जिज्ञासु होकर आवे, उसे धर्म का उपदेश दे दे; किसी प्रकार की शंका हो तो समाधान कर दे। इसके अतिरिक्त इधर-उधर के प्रपंच में नहीं फँसना चाहिए। जीवन का एक-एक क्षण अनमोल है और संयममय जीवन के क्षणों का तो कहना ही क्या है। यह पावन अवसर दुनियादारी की निरर्थक चकल्लस में गँवाने के लिए नहीं है।

सज्जनो ! संसार की वहुमूल्य से वहुमूल्य वस्तु भी किसी न किसी मूल्य पर मिल सकती है, परन्तु व्यतीत हुआ समय किसी भी कीमत पर मिलने वाला नहीं है। अतएव 'कर लिया सो काम और

भज लिया सो राम।' इस अमूल्य जीवन के महत्त्व को समझना चाहिए और उसका सदुपयोग करना चाहिए।

(५) देवाधिदेव—पाँचवें देव हैं। वे सब देवों के देव हैं जिन्होंने इस मानवशरीर में ही ईश्वरत्व को प्रकट कर लिया है, जो जीवन्मुक्त हो चुके हैं अर्थात् जिनकी आत्मा से काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ, राग, द्वेष आदि विकार नष्ट हो गये हैं। वह देवाधिदेव देवों के भी देव हैं।

इस प्रकार कोई राजा-महाराजा नरदेव तो कहला सकता है, मगर उसे त्यागी देव या परमात्मा नहीं कहा जा सकता। मगर आज तो जैसे भोगी-संयोगी चेले हैं, वैसे ही उनके भोगी-संयोगी देव हैं।

सच्चा देव वही है जो अठारह दोषों से रहित है। निरावरण है। जो सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, वीतराग और कृतकृत्य है। वे अर्हन्त और सिद्ध के भेद से दो प्रकार के हैं। अर्हन्त भगवान् सशरीर और सिद्ध भगवान् अशरीर होते हैं।

दोनों ही प्रकार के देवाधिदेव परम विशुद्ध दशा प्राप्त कर चुके हैं। उन्होंने सम्पूर्ण अन्धकार को नष्ट कर दिया है। उनके निकट अन्धकार का कुछ काम ही नहीं है। वे लोकालोक के समस्त भावों को जानने और देखने वाले हैं।

इसी प्रकार की अवस्था प्राप्त करके भी जो सयोगी होते हैं अर्थात् जिनके मन वचन काय रूप योग विद्यमान हैं, वे अर्हन्त देव कहलाते हैं। किन्तु योगों के होते हुए भी वे अशुभ प्रवृत्तियों से सर्वथा रहित हो गये हैं। मन, वचन काय के योग वैसे तो बहुत

उपयोगी होते हैं, वशर्ते कि उन्हें ठीक ढंग से काम में लिया जाय। अगर इन्हें खुला छोड़ दिया जाय तो इनके समान आत्मा का कोई शत्रु भी नहीं है। और यदि इन पर पूर्ण नियन्त्रण रक्खा जाय तो आत्मोत्थान में अत्यन्त उपयोगी भी यही होते हैं।

सज्जनो! लुकमान नामक एक वड़े हकीम हो चुके हैं। वह राजा के हकीम थे, खास तौर से राजा का इलाज किया करते थे। जहाँ वे जड़ी-वूटियों को पहचानने में कुशल थे, वहाँ रोग का कारण पहचानने में भी असाधारण थे। किसी के असातावेदनीय कर्म का बहुत तीव्र उदय हो तो वात दूसरी, अन्यथा वह अपनी दवा से फौरन् ही मरीज़ को राहत पहुँचा देते थे।

राजा जितना उनकी हिकमत से खुश था, उससे वढ़ कर उनके जीवनव्यवहार से खुश था। वह समय-समय पर हकीम साहव से वार्त्तालाप करता और अपने प्रश्नों के सुन्दर उत्तर पाकर अत्यन्त प्रसन्न तथा सन्तुष्ट होता था। वह प्रश्नों का उत्तर देने में वहुत निष्णात थे। उनकी वातें सुन कर राजा और दरवारी लोग वड़े प्रसन्न होते थे और उनकी नसीहतों को अपनी जिन्दगी में उतारने की कोशिश करते थे।

इस प्रकार आमोद-प्रमोद के साथ सव का समय व्यतीत हो रहा था।

एक दिन राजा और लुकमान प्रसन्न भाव मे वैठे थे। राजा के दिल में आया कि कोई प्रश्न छोड़ा जाय और उस पर चर्चा आरम्भ की जाय। यह सोच कर राजा ने कहा—

हकीम साहब ! आप शरीरविज्ञान के वेत्ता हैं, शरीर के अंग-प्रत्यंग के विषय में अच्छी तरह जानते हैं, उनमें होने वाले रोगों को और उनके प्रतीकार को भी भलीभाँति जानते हैं। मगर यह तो बतलाइए कि इस शरीर में सर्वोत्तम वस्तु क्या है ?

लुकमान ने उत्तर दिया—यों तो अपने-अपने स्थान पर सभी चीज़ें उत्तम हैं, आँख, कान, नाक, हाथ, पैर आदि सभी की उपयोगिता है, फिर भी सब से अधिक उत्तम दो चीजें कही जा सकती हैं—अन्त:करण और जबान। इन दोनों से उत्तम इस शरीर में कोई अच्छी वस्तु नहीं जान पड़ती।

तब राजा ने दूसरा प्रश्न किया—अच्छा अब यह भी बतलाइए कि शरीर में निकृष्ट—निकम्मी चीजें क्या हैं ?

हकीम साहब—जहांपनाह ! यही दोनों चीज़ें सब से निकृष्ट भी हैं।

राजा—आपने तो खिचड़ी-खाटा इकट्ठा कर दिया। जो चीज़ें सर्वोत्कृष्ट हैं, वही निकृष्ट कैसे हो सकती हैं ? साफ-साफ समझाइए।

लुकमान बोले—हजूर, समय-समय की बात हैं।

राजा—यह कैसे हो सकता है। जो वस्तु सब से अच्छी है, वही सब से बुरी कैसे हो सकती है ?

लुकमान—जहांपनाह ! मेरी दोनों बातों में कोई विरोध नहीं है। अपने आपमें कोई वस्तु बुरी-भली नहीं होती। वस्तु की अच्छाई और बुराई उसके उपयोग में निहित है। जब किसी वस्तु

का सदुपयोग किया जाता है तो वह अच्छी होती है और जब उसका दुरुपयोग किया जाता है तो वही बुरी हो जाती है। और जो बात वस्तु के विषय में है, वह शक्ति के विषय में भी समझना चाहिये।

इसका स्पष्टीकरण करते हुए लुकमान बोले—जिस मन में दुनिया की भलाई की बात होती है, जो सब का भला चाहता है, सब का शुभचिन्तक है, और जो प्रातःकाल उठते ही यह भावना करता है कि—

सुखी रहें सब जीव जगत् के, कोई कभी न घबरावे।

अर्थात्—इस संसार में कहीं कोई भी प्राणी दुःखी दृष्टिगोचर न हो, सब सुखी रहें। मेरी आत्मा तभी सुखी और प्रसन्न होगी जब मैं संसार के समस्त प्राणियों को सुखी और प्रसन्न देखूँगा।

दयावान् पुरुष दूसरे को दुःखी देख कर स्वयं दुःखी हो जाता है। अतएव जिस अन्तःकरण में विश्व के कल्याण की भावना समाई रहती है, वह अन्तःकरण सर्वोत्तम है।

इसी प्रकार जिसकी जबान में सचाई है, उसकी जबान सर्वोत्तम है।

जो भी तप, जप, संयम और महाव्रत आदि हैं, सब इन दोनों गुणों में गर्भित हो जाते हैं; क्योंकि अहिंसा और सत्य ही सब गुणों के बीज हैं। इनके होने पर अन्यान्य सद्गुणों के अंकुर स्वतः फूट निकलते हैं। इनके अभाव में कोई सद्गुण प्रथम तो उत्पन्न ही नहीं होता और कदाचित् उत्पन्न हो जाय तो टिक नहीं सकता।

तो लुकमान ने कहा—राजन्, जिस दिल में दुनिया की भलाई और जिस जबान में सचाई रहती है, वह दिल और वह जबान ही इस सारे शरीर में उत्तम है।

बादशाह ने कहा – ठीक है, यह तो समझा। मगर यही दोनों चीज़ें निकृष्ट कैसे हैं ?

लुकमान बोले—जिस अन्तःकरण में हमेशा खोटी ही खोटी भावनाएँ उत्पन्न होती रहती हैं, अमुक का ऐसा हो जाय और फलां का वैसा हो जाय —इस प्रकार जो दूसरों का बुरा ही सोचता रहता है, जिसकी भावना दूसरों को हानि पहुँचाने की ही बनी रहती है, अन्त:करण काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ, तृष्णा आदि विकारों का अड्डा बना हुआ है, जिसमें मलीन और तामसिक वृत्तियाँ ही उत्पन्न होती रहती हैं, वह अन्तःकरण निकृष्ट है।

इसी प्रकार जिस जीभ पर सदैव असत्य की क्रीड़ा होती रहती है, वह जीभ शरीर में सब से अधिक निकृष्ट अवयव है। क्योंकि झूठ सब पापों का मूल है।

कहा भी है—

सांच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।

सत्य का आचरण सर्वोत्तम तप है। जो सत्यनिष्ठ होगा, उसमें अहिंसा भी उत्पन्न हुए बिना नहीं रहेगी। वह यथाशक्ति दान भी देगा, ब्रह्मचर्य का भी पालन करेगा और उसमें निर्लोभता भी होगी। सत्य सर्वोत्तम धर्म है, इसीलिए झूठ सब से बड़ा पाप है। खाने के बाद जो झूठन बच जाती है, उसे कुत्ते या कौवे खाते हैं। शास्त्रों का कथन है कि झूठ बड़ी निकम्मी और रद्दी वस्तु है। साधु पुरुषों ने जिसको त्याग दिया है, वमन कर दिया है, उसको कोई देखना भी पसन्द नहीं कर सकता। इस प्रकार श्रेष्ठ आत्माओं ने जिसको वमन कर दिया है, उसका सेवन करने वाली आत्मा श्रेष्ठ

नहीं कहला सकती। अतएव जवान से कभी असत्य का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

तो लुकमान ने भी कहा है कि जिस अन्तःकरण में मलीन और कुत्सित भावनाएँ वनी रहती हैं और जो जीभ असत्य एवं अप्रशास्त्र वचनों का उच्चारण करती है वह निकृष्ट है।

राजा ने लुकमान का स्पष्टीकरण सुना तो कहा—हकीमजी, आपने ठीक कहा है।

सज्जनो ! तो इस मन और जीभ के समान कोई उत्कृष्ट भी नहीं है और निकृष्ट भी नहीं है। ये दोनों सव से उत्तम भी हैं और अधम भी हैं। वास्तव में इनकी उत्तमता इनके सदुपयोग और दुरुपयोग पर निर्भर है।

वे वरतन थोड़े हैं जिनमें इत्र और गुलाव जल भरे जाते हैं, किन्तु रद्दी पात्र वहुत हैं जिनमें निकृष्ट चीजें भरी जाती हैं। इसी संसार में धर्मनिष्ठ जीव थोड़े हैं और पापी वहुत हैं।

जिसके मन में विकार भरे हुए हैं, सत्य का प्रयोग नहीं करेंगे। कामनाशील पुरुष अपनी कामनाओं की पूर्त्ति के लिए छल-कपट का आश्रय लेता है। जव उसकी कामनाओं और वासनाओं की सीधी तरह पूर्त्ति नहीं होती तो उसे झूठ का भी आश्रय लेना पड़ता है। आखिर कामी पुरुष की दुर्दशा होती ही है। वह पण्डित, कवि, शास्त्री या ज्योतिषाचार्य हो क्यों न हो, जव वह वासनाओं का शिकार होता है, तो उसे झूठ का आश्रय लेना ही पड़ता है। मगर याद रखना चाहिए कि जो कामवासना की पूर्त्ति के लिए दुःख देता है किसी को, वह स्वयं सुखी नहीं हो सकता।

किसी राजा के दरबार एक ज्योतिषी पण्डित आया। वह बड़ा होशियार था। राजा ने अपनी कन्या को बुलवा कर ज्योतिषी से पूछा—यह बताओ कि इस कन्या का भविष्य क्या है?

राजकुमारी अत्यन्त सुन्दरी, हृष्टपुष्ट और गुणवती थी। ज्यों ही उस ज्योतिषी ने राजकुमारी के मुखमण्डल पर दृष्टि डाली तो वह कामातुर हो गया। उसके चित्त में विकार का प्रादुर्भाव हो गया। अतएव उसने सीधा उत्तर न देकर उलटा ही चक्कर घुमा दिया।

सज्जनो! मनुष्य को संसार में यह चक्कर ही घुमा रहे हैं। मोहनीय कर्म के वशीभूत हो कर मनुष्य किस-किस विडम्बना का पात्र नहीं वनता?

हाँ, तो उस ज्योतिषी ने मीन, मेप, मकर, कुंभ की गणना करके सिर हिला दिया। राजा ने यह देखा और सोचा कि यहाँ दाल में कुछ काला है।

प्रकट रूप में राजा ने पूछा—ज्योतिषी जी आपने सिर क्यों हिलाया?

ज्योतिषी ने वनावटी गम्भीर रूप धारण करके कहा—अन्नदाता, अपराध क्षमा हो। यह संसार अत्यन्त दारुण और विषम है। यहाँ कोई पुत्री वन कर और कोई पुत्र बन कर वदला लेने आते हैं। इन राजकुमारी के ग्रह अच्छे प्रतीत नहीं होते। जब यह अठारह वर्ष की होंगी तो पितृ-वंश नष्ट हो जायगा। वीसवें वर्ष में इनके श्वसुर कुल का भी विनाश हो जायगा, ऐसा प्रतीत होता है। ज्योतिष में ऐसी कन्या को विषकंन्या कहते हैं।

रहा था कि पेटी कब नज़र आवे और मैं उसे किनारे पर लाकर राजकुमारी को प्राप्त करूँ और अपनी कामवासना की पूर्त्ति करूँ। इतने में ही पेटी बहती हुई पहुँची। ज्योतिषी अपनी सहायता के लिए अपने कुछ विश्वस्त साथियों को भी ले गया था। पेटी देखते ही वह नदी में उतरा और साथियों की सहायता से उसे किनारे पर ले आया।

तत्पश्चात् उसने अपने साथियों को विदा कर दिया। साथी चले गये और ब्राह्मण वहाँ अकेला रह गया। तब उसने पेटी का ताला तोड़ा। उसने पेटी का ऊपरी भाग हटाया ही था कि उसमें से एक मदोन्मत्त और भूखा रीछ निकला। रीछ ने निकलते ही ब्राह्मण का गला दबौच लिया और ब्राह्मण के प्राणपखेरू उड़ गये। ब्राह्मण बहुत चिल्लाया, पर डर के मारे कोई उसकी सहायता करने के लिए नहीं आया।

वज़ीर के आदमी इस घटना को देख रहे थे। उन्होंने पूरी घटना देखी और लौट कर वज़ीर को पूरा किस्सा सुनाया।

दूसरे दिन वज़ीर ने राजा के रुख को अनुकूल बना कर कहा—महाराज, बड़ा जुल्म हो गया। ज्योतिषी की बातें सब झूठ थीं। राजकुमारी बड़ी भाग्यशालिनी थी। उस ब्राह्मण के बहकावे में आकर आपने भारी अनर्थ कर डाला।

इस प्रकार कह कर तथा दूसरे कई ज्योतिषियों की सम्मतियाँ बता कर वज़ीर ने राजा को विश्वास करा दिया कि उस ज्योतिषी की बात एकदम छलकपट से भरी थी।

वज़ीर ने अपनी बात इतने अच्छे ढंग से पेश की कि राजा अपनी भूल समझ गया और पश्चात्ताप करने लगा—हाय मेरी

लाड़ली वेटी न जाने किस बुरी तरह मरी होगी। अच्छा, उस ज्योतिषी को पकड़ कर बुलवाओ और शूली पर चढ़ा दो।

वज़ीर—वह तो अपने पापों के कारण स्वयं ही शूली पर चढ़ गया।

यह कह कर वज़ीर ने उसके शव को मँगवाया और राजा के सामने रखवा दिया।

राजा उसे देख कर चकित रह गया। वह इस पहेली को समझ नहीं सका कि आखिर मामला क्या है और यह किस प्रकार मर गया ?

दुखित एवं विस्मित अवस्था में राजा ने कहा—यह तो मरा सो ठीक, मगर दुष्ट ने राजकुमारी को भी मरवा डाला ! हाय मेरी भोली कन्या !

उपयुक्त समय समझ कर वज़ीर ने कहा—महाराज, आप संताप न करें। राजकुमारी जी सकुशल हैं, यह हम लोगों का वड़ा सौभाग्य है।

यह कह कर वज़ीर ने राजकुमारी को महल से बुलवाया और कहा—महाराज, सम्भालिए इस रत्न को।

थोड़ी देर तक सन्नाटा रहा। जब राजकुमारी चली गई और एकान्त हो गया तो वज़ीर ने राजा को पूरा वृत्तान्त सुना कर कहा मैं उस ब्राह्मण की दुरभिसन्धि को उसी समय ताड़ गया था। मगर आप को भावावेश में देख कर रहस्योद्घाटन नहीं कर सका।

पूरा वृत्तान्त सुनकर राजा ने कहा—धन्य है तुम्हारी बुद्धि वजीर ! अगर तुम न होते तो कितना गजब हो गया होता !

ज्योतिषी ने जब यह चक्कर चला दिया तो राजा सोच-विचार में पड़ गया। अधिकाँश राजा भोंदू और कानों के कच्चे होते हैं। उसे ज्योतिषी के वचन पर विश्वास हो गया। उसने कहा—पण्डित जी अगर इसके जीवित रहने से दोनों वंश नष्ट हो जाएँगे तो महान् अनर्थ होगा। क्या इसका कोई प्रतीकार नहीं है आपके शास्त्र में ?

कामान्ध ज्योतिषी ने कहा—इस कन्या को किसी पेटी में बन्द करके नदी में बहा दें तो यह जीवित नहीं रहेगी और आप दो-दो वंशों के समूल विनाश के घोर पाप से बच जाएँगे। ऐसा करने से आपको अपने हाथ से मारने का पाप भी नहीं लगेगा और एक बड़ा अनर्थ भी टल जायगा।

ज्योतिषी यह परामर्श दे ही रहा था कि संयोगवशात् वजीर वहाँ पहुँच गया। वह बड़ा बुद्धिमान्, विचक्षण, अनुभवी और मनोवैज्ञानिक था। उसने ज्योतिषी के मन की बात ताड़ ली। मगर उसके परिपक्व अनुभव ने कहा—जरा धीरज से काम लेना चाहिए। उतावली करने से लाभ के बदले नुकसान हो सकता है। इस समय राजा उत्तेजना की अवस्था में है और कदाचित् हठ पर चढ़ गया तो सारी बाजी उलटी हो जाएगी।

इस प्रकार सोच कर वह चुप रहा और अपनी योजना मन ही मन सोचने लगा।

तब राजा ने मन्त्री से कहा—इस विषकन्या को रात्रि में नदी में बहा देना ही श्रेयस्कर है। इसके सिवाय और कोई रास्ता नहीं। परन्तु यह काम किसी विश्वासपात्र नौकर को सौंपना होगा।

वज़ीर ने कहा—अन्नदाता, नौकर तो नौकर ही है। उसे
श्वासपात्र से अविश्वासपात्र बनते क्या विलम्ब लगता है। यह
त्यन्त गोपनीय कार्य है। इसके लिए किसी नौकर का भरोसा
रने में खतरा है। अतएव इस कार्य का उत्तरदायित्व स्वयं मुझे
ना पड़ेगा।

राजा ने प्रसन्नता के साथ वज़ीर का प्रस्ताव स्वीकार कर
लया और कहा—वहुत ठीक, वहुत ठीक। यह काम तुमको ही
शियारी से करना होगा।

वज़ीर ने कहा—आप निश्चिन्त रहें महाराज, मैं इस काम
ो इस प्रकार पूरा करूँगा कि सारा पाप धुल जाय।

रात्रि हुई। वज़ीर ने राजकुमारी को बुला कर और भली-
ाँति समझा-बुझा कर रानी के महल में भेज दिया और कहला
देया कि राजकुमारी के वहाँ होने का पता महाराज को नहीं
गना चाहिए।

इधर वज़ीर ने पेटी मँगवा कर और उसमें एक रीछ को बंद
रवा कर ताला जड़ दिया। फिर नौकरों को आदेश दिया—ले
ाओ इस पेटी को और नदी में वहा आओ। यह रहस्य किसी पर
कट नहीं होना चाहिए।

नौकरों ने पेटी ले जाकर नदी में डाल दी। वे आगे क्या
ोता है, यह देखने के लिए नदी के किनारे एक झाड़ी में छिप कर
खड़े हो गये।

उधर वह कामान्ध ब्राह्मण ज्योतिषी इसी ताक में था। वह
नदी के घाट से कुछ नीचे की ओर छिपा बैठा था और प्रतीक्षा कर

यह पिशाच ब्राह्मण मेरी हीरा-सी बेटी की न जाने क्या दुर्गति करता !

यह कह कर राजा ने वजीर को बहुत इनाम दिया और उसके प्रति अतिशय कृतज्ञता प्रकट की ।

सज्जनो ! यह अन्तःकरण सब से खोटा है । जिस मन में ऐसे विकार छिपे रहते हैं, उससे बढ़ कर निकृष्ट और कौन हो सकता है ?

अत्यन्त उत्कट पाप का फल तत्काल भी मिल जाता है । वह ब्राह्मण एक पवित्र कन्या का धर्म भ्रष्ट करने जा रहा था तो स्वयं ही नष्ट हो गया । जो दियासलाई दूसरे को जलाने जाती है, वह स्वयं पहले जल जाती है ।

सच है, मोहान्ध मनुष्य क्या-क्या दुष्कर्म नहीं कर डालता ? वह भयानक से भयानक पातक करने से भी नहीं हिचकता है । कहा भी है—

चिन्तातुराणां न सुखं न निद्रा,
क्षुधातुराणां न बलं न तेजः ।
अर्थातुराणां स्वजनो न बन्धुः,
कामातुराणां न भयं न लज्जा ॥

अर्थात्—जो व्यक्ति चिन्ता से सताया जा रहा हो उसे नींद नहीं आती है । जो भूख से पीड़ित रहता है और कभी भरपेट भोजन नहीं पाता, उसके शरीर में बल नहीं होता, शरीर कान्तियुक्त नहीं होता । जो धन के चक्कर में पड़ा है, लोभ से व्यथित है, उसका न कोई भाई है, न कोई स्वजन है ! वह तो मानो समदृष्टि बन जाता है अर्थात् एक ही नज़र से सबको देखता है, पराये को भी लूटता है

और स्वजनों को भी लूटता है। जो काम से पीड़ित होता है, जो विषय विकारों से व्यथित है, वह सभी मर्यादाओं का उल्लंघन कर देता है। उसे न लज्जा होती है, न लोक-परलोक का भय ही रहता है। वह ऐसे अधम कृत्य करने में भी संकोच नहीं करता जिन्हें सुन कर भले आदमियों को आश्चर्य होता है। वह लज्जा-शर्म को खुले बाजार में बेच चुका होता है। शास्त्र में कहा है—

लज्जा दया संयम बंभचेरं।

यदि मनुष्य में लाज है, शर्म है, गैरत है, कुलीनता है तो उस के हृदय में दया का स्रोत भी बहता है—संयम भी होता है। ऐसा व्यक्ति यदि साधु हो तो सोचता है—मैंने घर छोड़ा है, कुटुम्ब का परित्याग किया है, संयम पालन करने की महाप्रतिज्ञा अंगीकार की है। जब मैंने दीक्षा ली थी तो लोग जयजयकार करते थे और मेरे घर वाले मोह के कारण गम्भीर और व्यथित थे। वह दिन मुझे भूल नहीं जाना चाहिए।

गौतम की माता ने कहा था—अंगज ! तू मुझे रुला रहा है, पर ऐसी करनी करना कि भविष्य में किसी दूसरी माता को रुदन न करना पड़े। माता का यह भावपूर्ण उद्गार उनके कानों में निरन्तर गूंजता रहा और उन्होंने ऐसी करनी की कि उसी जन्म से करनी कर अजर-अमर हो गए। सब बन्धनों को तोड़कर मोक्ष में चले गए और फिर किसी माता को रुलाना और कष्ट नहीं देना पड़ा।

यद्यपि आज इस क्षेत्र में मोक्ष नहीं प्राप्त होता, किन्तु करनी तो निष्फल नहीं हो सकती। करनी करोगे तो लम्बे सफर को नज़दीक तो कर ही लोगे। इसके विपरीत, यह जीवन ठीक न होगा तो सफर और अधिक लम्बा हो सकता है।

साधु वन जाने मात्र से काम नहीं चलता। दुकान में माल होना चाहिए। इसी प्रकार आँखों में शर्म होनी चाहिए, संघ की शर्म होनी चाहिए और सोचना चाहिए कि ऐसा करने से मेरा जीवन पिछड़ जाएगा। यह अवसर वड़ी मुश्किल से हस्तगत हुआ है; अतएव धर्म और लोकव्यवहार से विरुद्ध कोई कार्य नहीं करना चाहिए, जिससे शान में वट्टा लगे।

समय तो व्यतीत हो जाने वाला है। अच्छाई से भी गुज़र जाएगा और बुराई से भी गुज़र जाएगा। मगर गुज़रने गुज़रने में अन्तर होता है। एक तो घी गिर जाए नए मूंग की खिचड़ी में, जिसे खा लेने से शरीर में कान्ति आ जाती है और एक घी गिरे रेत में, जो वेकार हो जाता है। किसी काम नहीं आता। इसी प्रकार हमारा जीवन यदि धर्म-साधना में बीत रहा है तो अवश्य बीतने दो। वह सार्थक है और उचित काम में लग रहा है। किन्तु अफसोस तो तब होगा यदि वह धूल में गिर गया।

सज्जनो! इस महामहिम जीवन को धूलिधूसरित न करते हुए अमरपद की प्राप्ति के पथ पर अग्रसर करो। इस जीवन को वनाने का यही मौका है। मगर इसे वनाने के लिए विषय-विकारों से विमुख होना पड़ेगा। ये विषय-विकार मनुष्य को धोखा दे रहे हैं। इनके वशवर्त्ती हुए पुरुष को न लाज रहती है, न भय रहता है। वह वाचाल हो जाता है, वेपरवाह हो जाता है और हिरण की तरह चौकड़ी भरने लगता है। अतएव जीवन को नियन्त्रित रखने की वहुत आवश्यकता है।

तो जैसे अन्तःकरण परममित्र और परमशत्रु है, उसी प्रकार जीभ भी है। यह सत्य और मधुर भाषा का उच्चारण करे तव तो

परम मित्र है और यदि अनिष्ट, असत्य और अप्रशस्त शब्दों का प्रयोग करें तो यही सर्वोत्कृष्ट शत्रु भी है।

हाँ, तो शास्त्रों में उल्लेख है कि चार घातिया कर्मों को नष्ट कर देने के पश्चात् आत्मा सयोगी केवली बन जाता है और उस समय सिर्फ चार अघातिया कर्म ही शेष रह जाते हैं। सयोगी केवली अवस्था में मन, वचन, काय के योग तो बने रहते हैं, किन्तु उनकी दुष्प्रवृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। बुरी प्रवृत्तियों का काला मोहनीय कर्म था और जब वह नहीं रहा तो कारण के बिना कार्य कैसे हो सकता है ? उस अवस्था में सिर्फ एक ही कर्म का बन्ध होता है, अर्थात् वेदनीय कर्म ही बँधता है। यद्यपि केवलज्ञान हो गया है, फिर भी शरीर तो विद्यमान ही है और शरीर सम्बन्धी क्रियाएँ भी करनी ही पड़ती हैं। अलबत्ता मोह क्षीण हो जाने से शरीर के प्रति आसक्ति नहीं होती।

केवलज्ञानी ऐसे अनासक्त और अलिप्त रहते हैं, जैसे पानी में कमल। यद्यपि कमल पानी में ही रहता है और पानी के साथ उसका सम्बन्ध है, फिर भी वह पानी में लिप्त नहीं होता और कीचड़ से लिप्त नहीं होता। अलग-थलग ही अपना अस्तित्व रखता है। पानी की एक बूंद को भी वह अपने ऊपर टिकने नहीं देता।

ऐसी स्थिति में केवलज्ञानियों को जो वेदनीय कर्म का बन्ध होता है, वह भी टिकाऊ नहीं होता। कर्म में स्थिति पड़ने का कारण कषाय है और केवली अवस्था में कषाय रहता नहीं है। अतएव वेदनीय कर्म आता है और चला जाता है। एक समय में बँधता है, दूसरे समय में वेदन कर लेते हैं और फिर निर्जरा कर डालते हैं। वहाँ तो चट रोटी पट दाल वाली कहावत चरितार्थ होती है। साहूकार का लक्षण ही यह है कि किसी से ले ले तो फौरन चुका भी दे।

सयोग केवली की आत्मा में इतनी चिकनास ही नहीं रहती कि आए हुए कर्म चिपक सकें। वे कर्म तो लकड़ी के बुरादे के लड्डू के समान होते हैं। उन्हें दीवार पर मारा जाए तो दीवार का स्पर्श करके गिर जाते हैं। कदाचित् कोई क़ण रह गया तो वह भी हवा का स्पर्श होते ही गिर जाता है। इस प्रकार उनके पहले समय में बन्ध होता है, दूसरे सम्बन्ध में वेदन और तीसरे समय में निर्जरा हो जाती है। तो बन्ध, उदय, उदीरणा और निर्जरा सभी कुछ तीन समय में हो जाता है।

तेरहवें गुणस्थान से ऊपर उठ कर जब वे चौदहवें गुणस्थान में पहुँचते हैं तो मन, वचन और काय के योगों से भी मुक्त हो जाते है और पाँच ह्रस्व स्वरों के मध्यम रीति से उच्चारण करने में जितना समय लगता है, उतने समय ठहर कर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

सज्जनो ! यह साधना बड़ी कठिन है, मगर जो पुरुषार्थ करता है, उसे सफलता भी जरूर मिलती है। कोरी बातें करने से काम नहीं चलता। धीमी चाल धीमी है क्या, आएगी मंज़िल ज़रूर खौफ़ गिर जाने का भी तो तेज़ रफ़्तारी में है धीमे ही सही, मगर पैर बढ़ाते चलने से लम्बा रास्ता भी तय हो ही जाता है। खड़े-खड़े रास्ता तय नहीं होता। सर्वप्रथम आत्मा को आत्माभिमुख करना चाहिए। जो अनात्मभाव को त्याग कर आतमभाव में आते हैं और त्रिदोषों को दूर करते है, वे संसार-समुद्र से पार हो जाते है।

ब्यावर
२५—१०—५६

———